वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००
विवेक ज्योति
वर्ष ४७ अंक ९ सितम्बर २००९
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ( छ. ग. )

## मंगल कामना

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥**
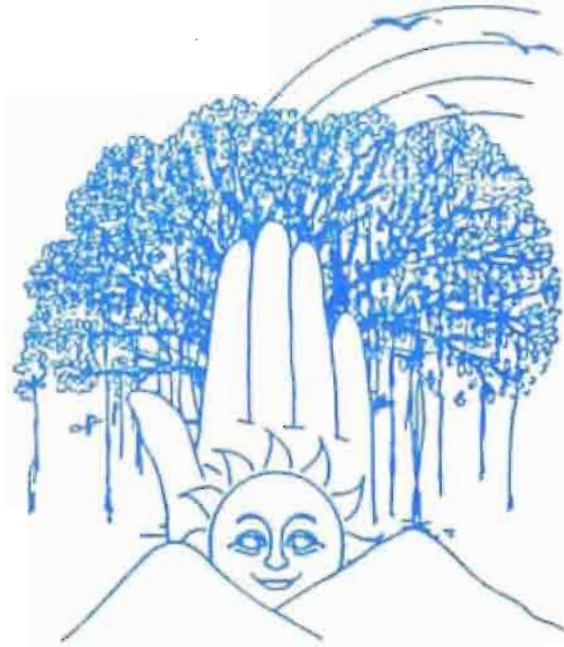
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

**हिन्दी मासिक**

**सितम्बर २००९**

प्रबन्ध सम्पादक

**स्वामी सत्यरूपानन्द**

सम्पादक

**स्वामी विदेहात्मानन्द**

**वर्ष ४७**
**अंक ९**

**वार्षिक ६०/–** **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

**विदेशों में** – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

**संस्थाओं के लिये –**

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–


**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)**

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)


## अनुक्रमणिका


१. विवेक-चूडामणि (श्री शंकराचार्य) ४०३
२. विवेकानन्द-वन्दना (कविता) ४०४
३. जीवन्त ईश्वर की पूजा (स्वामी विवेकानन्द) ४०५
४. नाम की महिमा (३/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ४०७
५. दु:ख में सुख (सत्यकथा) (रामेश्वर टांटिया) ४१२
६. आत्माराम के संस्मरण (१५) (स्वामी जपानन्द) ४१३
७. महाभारत-मुक्ता (३) हृदय-परिवर्तन (स्वामी सत्यरूपानन्द) ४१७
८. स्वामीजी और राजस्थान – ५७ (खेतड़ी की ओर – दिल्ली, अलवर) (स्वामी विदेहात्मानन्द) ४१९
९. माँ की मधुर स्मृतियाँ – ७० (बुआ की बातें) (शान्तिराम दास) ४२३
१०. चिन्तन – १६३ (मनुष्य का ईश्वरत्व) (स्वामी आत्मानन्द) ४२६
११. तपस्या और चित्तशुद्धि (स्वामी प्रेमेशानन्द) ४२७
१२. जपमाला के विविध रूप (स्वामी श्रद्धानन्द) ४२८
१३. पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१५) (स्वामी प्रेमेशानन्द) ४३१
१४. स्वामी विवेकानन्द की अस्फुट स्मृतियाँ (क्रमशः) (स्वामी शुद्धानन्द) ४३३
१५. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर) ४३६
१६. मानसिक स्वास्थ्य के सूत्र (डॉ. प्रकाश नारायण शुक्ल, M.D.) ४३७
१७. श्रीरामकृष्ण का चित्र : एक चिन्तन (बेनीमाधव हरिहारनो) ४४२



मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

## लेखकों से निवेदन

**पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –**

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

## सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४७ सितम्बर २००९ अंक ९

## विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

**वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च**
**प्राणादि पञ्चाभ्रमुखानि पञ्च ।**
**बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी**
**पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ।।९६।।**

**अन्वय** – वागादि पञ्च, श्रवणादि पञ्च, प्राणादि पञ्च, अभ्रमुखानि पञ्च, बुद्धि आदि (अंत:करणचतुष्टयः), अविद्या अपि च, काम-कर्मणी पुरी अष्टकं सूक्ष्म-शरीरम् आहुः ।

**अर्थ** – वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रवण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण आदि पाँच वायु, आकाश आदि पाँच महाभूत, बुद्धि आदि अन्त:करण-चतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म – इन आठ पुरियों को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

**इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं**
**लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसम्भवम् ।**
**सवासनं कर्मफलानुभावकं**
**स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः।।९७।।**

**अन्वय** – शृणु, इदं सूक्ष्म-संज्ञितं शरीरं लिङ्गं तु अपञ्चीकृत-भूत-सम्भवम् सवासनं कर्मफल-अनुभावकम् स्व-अज्ञानतः आत्मनः अनादिः उपाधिः ।

**अर्थ** – सुनो, सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहा जाता है। यह अपंचीकृत पंच भूतों से गठित है; वासनाओं से युक्त होकर, कर्मफलों का भोग करानेवाला, अपने स्वरूप-ज्ञान के अभाव में आत्मा की अनादि उपाधि है।

**स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था**
**स्वमात्रशेषेण विभाति यत्र ।**
**स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्-**
**कालीननानाविधवासनाभिः ।।९८।।**
**कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते**
**यत्र स्वयं भाति ह्ययं परात्मा ।**
**धीमात्रकोपाधिरशेषसाक्षी**
**न लिप्यते तत्कृतकर्मलेशैः ।**
**यस्मादसङ्गस्तत एव कर्मभि-**
**र्न लिप्यते किञ्चिदुपाधिना कृतैः।।९९।।**

**अन्वय** – अस्य स्वप्नः विभक्ति अवस्था भवति। यत्र स्वमात्र-शेषेण विभाति। स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयम्-एव जाग्रत्-कालीन-नानाविध-वासनाभिः कर्तृ-आदि-भावं प्रतिपद्य राजते। यत्र अयं परात्मा स्वयं हि भाति अशेषसाक्षी धी-मात्रक-उपाधिः तत्-कृत-कर्म-लेशैः न लिप्यते, यस्मात् असङ्गः ततः एव उपाधिना कृतैः कर्मभिः किञ्चित् न लिप्यते।

**अर्थ** – इस सूक्ष्म देहाभिमानी जीव की (जाग्रत से भिन्न) स्वप्न अवस्था होती है। इसमें (बाह्य करणों से रहित) अपना ही रूप अन्त तक दीप्तिमान रहता है। स्वप्न में बुद्धि स्वयं ही जाग्रत-काल की विभिन्न वासनाओं की सहायता से कर्तृत्व आदि भाव को प्राप्त करके विराजती है। यहाँ (स्वप्न में) यह परमात्मा स्वयं ही प्रकाशित होता है; (इसकी सभी वस्तुओं का) चिरकालीन द्रष्टा, केवल बुद्धिरूप उपाधियुक्त, बुद्धि द्वारा कल्पित कर्म के लेशमात्र द्वारा लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह (आत्मा) असंग या निर्लिप्त है, अत: बुद्धिरूप उपाधि द्वारा कृत कर्मों से जरा भी लिप्त नहीं होता। ❖ **(क्रमशः)** ❖

# विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(बिहाग–कहरवा)

वीर विवेकानन्द महान् ।
कृष्ण समान लिये कर्मठता,
बुद्ध-हृदय, शंकर का ज्ञान ।।

चिर समाधि के हिम शिखरों से,
तप्त-द्रवित हो आर्त स्वरों से,
करुणा-गंगा होकर उतरे,
करने शीतल जन-मन-प्राण ।।

धर्म-कर्म का मर्म बताया,
पूरब-पश्चिम मेल कराया,
वेद-सुधा का सिंचन करते,
निर्भय विचरे सिंह-समान ।।

दीन-दुखी पापी-पतितों में,
देखा ब्रह्म सभी जीवों में,
बतलाया 'विदेह' इन सबकी,
पूजा करो सहित सम्मान ।।

– २ –

(बहार–कहरवा)

नमो नरेन्द्र विवेकानन्द
त्रिभुवन पावनकारी ।
ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-प्रेम से,
भूषित नरतनु धारी ।।

गुरु-सन्देश लिये अन्तर में,
निर्भय तुम विचरे जग भर में;
उपनिषदों के ज्ञानामृत से,
जन मन सिंचनकारी।।

देख दीनजन की दुर्गति को,
करने को निस्तार व्यथित हो;
सेवा का नव धर्म सिखाया,
दुःख-ताप-भय हारी ।।

*– विदेह*

# जीवन्त ईश्वर की पूजा

*स्वामी विवेकानन्द*

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

धर्म का रहस्य मतवादों से नहीं, बल्कि आचरण से जाना जा सकता है। भले बनना तथा भलाई करना – इसी में सारा धर्म निहित है। "जो केवल 'प्रभु प्रभु' की रट लगाता है, वह नहीं, अपितु जो उस परम पिता के इच्छानुसार कार्य करता है" – वही धार्मिक है।[६१]

नीतिपरायण और साहसी बनो, अन्त:करण पूर्णत: शुद्ध होना चाहिये। पूर्ण नीतिपरायण तथा साहसी बनो – प्राणों के लिये भी कभी न डरो। धार्मिक मत-मतान्तरों को लेकर बेकार की माथापच्ची मत करो। कायर लोग ही पापाचरण करते हैं, वीर कभी पाप नहीं करते – यहाँ तक कि वे कभी मन में भी पाप का विचार नहीं लाते।[६२]

यदि तुम सचमुच पवित्र हो, तो तुम्हें अपवित्रता कैसे दिखायी दे सकती है? क्योंकि जो भीतर है, वही बाहर दीख पड़ता है। हमारे अन्दर यदि अपवित्रता न होती, तो हम उसे बाहर कभी देख ही न पाते। वेदान्त की यह भी एक साधना है। आशा है, हम सभी लोग जीवन में इसको व्यवहार में लाने कीचेष्टा करेंगे।[६३]

परोपकार ही धर्म है; परपीड़न ही पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य है, दुर्बलता और कायरता पाप। स्वाधीनता पुण्य है; पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, घृणा करना पाप। परमात्मा में और स्वयं में विश्वास पुण्य है, सन्देह करना पाप। एकता का बोध पुण्य है, अनेकता देखना पाप।[६४]

सब प्रकार की नीति, शुभ तथा मंगल का मूलमंत्र 'मैं' नहीं, 'तुम' है। स्वर्ग और नरक हैं या नहीं, आत्मा है या नहीं, कोई अनश्वर सत्ता है या नहीं – इसकी कौन परवाह करता है? हमारे सामने यह संसार है और वह दु:खों से पूर्ण है। बुद्ध के समान इस संसार सागर में गोता लगाकर या तो इस संसार के दु:खों को दूर करो या इस प्रयत्न में प्राण त्याग दो। अपने को भूल जाओ, आस्तिक हो या नास्तिक, अज्ञेयवादी ही हो या वेदान्ती, ईसाई हो या मुसलमान – प्रत्येक के लिये यही प्रथम पाठ है। और जो पाठ सबको स्पष्ट है, वह है तुच्छ 'अहं' का उन्मूलन और वास्तविक आत्मा का विकास।[६५]

मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि हर जीव में वे ही विराजित हैं; इसके सिवा ईश्वर और कुछ भी नहीं। जीवों पर दया करनेवाला ही ईश्वर की सेवा कर रहा है।"[६६]

**बहु रूपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश?**
**व्यर्थ खोज यह, जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।**[६७]

तुमने पढ़ा है – **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** – 'अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो' – परन्तु मैं कहता हूँ – **दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव** – गरीब निरक्षर, मूर्ख और दु;खी, इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।[६८]

हम जीवित ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं। मैंने सम्पूर्ण जीवन ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं देखा। तुमने भी नहीं देखा। इस कुर्सी को देखने से पहले तुम्हें ईश्वर को देखना पड़ता है, उसके बाद उसी में और उसके माध्यम से कुर्सी को देखना पड़ता है। वह दिन-रात जगत् में रहकर प्रतिक्षण – 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' कह रहा है। जिस क्षण तुम बोलते हो – 'मैं हूँ', उसी क्षण तुम उस सत्ता को जान रहे हो। तुम ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने जाओगे, यदि तुम उसे अपने हृदय में हर प्राणी में नहीं देख पाते?[६९]

इस संसाररूपी नरक-कुण्ड में यदि एक दिन के लिये भी किसी व्यक्ति के चित्त में थोड़ा-सा आनन्द तथा शान्ति दिया जा सके, तो उतना ही सत्य है, आजन्म कष्ट भोगते हुए मैंने यही तो देखा है – बाकी सब कुछ व्यर्थ है।[७०]

यदि भलाई चाहते हो, तो घण्टा आदि गंगाजी में सौंप कर साक्षात् ईश्वर की – विराट् और स्वराट् की – मानव-देहधारी हर मनुष्य की पूजा में लग जाओ। यह जगत् ईश्वर का विराट् रूप है और उसकी पूजा का अर्थ है, उसकी सेवा – वास्तव में कर्म इसी का नाम है, निरर्थक अनुष्ठानों का नहीं।... लाखों रुपये खर्च कर काशी तथा वृन्दावन के मन्दिरों के कपाट खुलते और बन्द होते हैं। कहीं ठाकुरजी वस्त्र बदल रहे हैं, तो कहीं भोजन या और कुछ कर रहे हैं, जिसका ठीक-ठीक तात्पर्य हम नहीं समझ पाते, ... जबकि दूसरी ओर जीवित ठाकुर भोजन तथा विद्या के बिना मरे जा रहे है! मुम्बई के बनिया लोग खटमलों के लिये अस्पताल बनवा रहे हैं, पर मनुष्यों की ओर उनका जरा भी ध्यान नहीं है – चाहे वे मर ही क्यों न जायँ। तुम लोगों में इस सहज बात को समझने तक की बुद्धि नहीं है, यह हमारे देश के लिये प्लेग के समान है और पूरा देश पागलों का अड्डा बन गया है।[७१]

हर स्त्री, हर पुरुष और सभी को ईश्वर के ही समान देखो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा करने का ही अधिकार है – प्रभु की सन्तानों की, यदि भाग्यवान हो तो, स्वयं प्रभु की ही सेवा करो। ईश्वर के अनुग्रह से यदि तुम उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सके, तो धन्य हो जाओगे। अपने को बहुत बड़ा मत समझो। तुम धन्य हो, क्योंकि सेवा करने का अधिकार तुमको मिला, दूसरो को नहीं। केवल पूजा के भाव से सेवा करो। हमें निर्धनों में ईश्वर को देखना चाहिये, अपनी ही मुक्ति के लिये उनके निकट जाकर हमें उनकी पूजा करनी चाहिये। निर्धन तथा दुखी लोग हमारी मुक्ति के साधन हैं, ताकि हम रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुये प्रभु की सेवा करके अपना उद्धार कर सकें।[७२]

सबसे पहले उस विराट् की पूजा करो, जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो – 'उसकी' पूजा करो। ये मनुष्य और पशु – जिन्हें हम अपने आसपास और आगे-पीछे देख रहे हैं – ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पहले पूज्य हैं – हमारे अपने देशवासी। परस्पर ईर्ष्या-द्वेष करने और झगड़ने की जगह हमें उनकी पूजा करनी होगी।[७३]

समस्त उपासनाओं का यही सार है कि व्यक्ति पवित्र रहे और सदैव दूसरों का भला करे। वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, पर यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है, तो उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-शुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेद-भाव के, यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से उस दूसरे मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्रसन्न होंगे, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में ही देखता है।

एक धनी व्यक्ति का एक बगीचा था जिसमें दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा सुस्त तथा कमजोर था, परन्तु जब कभी वह अपने मालिक को आते देखता, तो झट से उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहता, "मेरे स्वामी का मुख कैसा सुन्दर है!" और उनके सम्मुख नाचने लगता। दूसरा माली ज्यादा बातचीत नहीं करता था, उसे तो बस अपने काम से काम था। वह बड़ी मेहनत से बगीचे में तरह-तरह के फल-सब्जियाँ पैदा करके, उन्हें स्वयं अपने सिर पर रखकर मालिक के घर पहुँचाता था, यद्यपि मालिक का घर बहुत दूर था। अब इन दो मालियों में से मालिक किसको अधिक चाहेगा? बस, ठीक इसी प्रकार यह संसार एक बगीचा है, जिसके मालिक शिव हैं। यहाँ भी दो प्रकार के माली हैं – एक तो वह जो सुस्त, अकर्मण्य तथा ढोंगी है और कभी-कभी शिव के सुन्दर नेत्र, नासिका तथा अन्य अंगों की प्रशंसा करता रहता है; और दूसरा ऐसा है जो शिव की सन्तान की, समस्त दीन-दुखी प्राणियों की और उनकी सारे सृष्टि की चिन्ता रखता है। इन दो प्रकार के लोगों में से कौन शिव को अधिक प्यारा होगा? निश्चय ही, वही जो उनकी सन्तान की सेवा करता है। जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे सबसे पहले अपने भाइयों की सेवा करनी चाहिये, इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनकी सन्तान की, विश्व के प्राणी-मात्र की सेवा करनी चाहिये। शास्त्रों में कहा भी गया है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है, वही उनका सर्वश्रेष्ठ दास है। यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिये।

मैं फिर कहता हूँ कि तुम्हें स्वयं शुद्ध रहना चाहिये तथा यदि कोई तुम्हारे पास सहायतार्थ आये, तो जितना तुमसे बन सके, उतनी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। यही सर्वश्रेष्ठ धर्म कहलाता है। इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जाएगा और फिर शिव, जो प्रत्येक हृदय में निवास करते हैं, प्रकट हो जायेंगे। ... परन्तु इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य स्वार्थी है, तो चाहे उसने संसार के सब मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किये हो, चाहे वह सारे तीर्थों में क्यों न गया हो और चाहे रंग-भभूत रमाकर अपनी शक्ल चीते-जैसी क्यों न बना ली हो, वह शिव से दूर है – बहुत दूर है।[७४]

❖ (क्रमशः) ❖

**सन्दर्भ-सूची –**

**६१.** विवेकानन्द साहित्य (१९६३), खण्ड १, पृ. ३८०; **६२.** वही, खण्ड १, पृ. ३५०-५१; **६३.** वही, खण्ड ८, पृ. ३५; **६४.** वही, खण्ड १०, पृ. २२२; **६५.** वही, खण्ड ८, पृ. ५९; **६६.** वही, खण्ड ६, पृ. २१६; **६७.** वही, खण्ड ९, पृ. ३२५; **६८.** वही, खण्ड ३, पृ. ३५७; **६९.** वही, खण्ड ८, पृ. २८; **७०.** वही, खण्ड ८, पृ. ३९१; **७१.** वही, खण्ड ३, पृ. २९९; **७२.** वही, खण्ड ५, पृ. १४१; **७३.** वही, खण्ड ५, पृ. १९४; **७४.** वही, खण्ड ५, पृ. ३८-३९

# नाम की महिमा (३/१)

*पं. रामकिंकर उपाध्याय*

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

नाम के विषय में गोस्वामीजी की जो धारणा है, नाम-रामायण के रूप में जैसे उन्होंने श्रीराम के साथ उनके नाम की तुलना की है, उसी पर विचार चल रहा है। प्रसंग विचार -प्रधान और साधना-प्रधान है। गोस्वामीजी नाम-रामायण का श्रीगणेश अहल्या-उद्धार से करते हैं। वे कहते हैं –

**राम एक तापस तिय तारी ।**
**नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।**

– श्रीराम ने तो केवल एक तपस्वी स्त्री का उद्धार किया, परन्तु उनके नाम ने करोड़ों दुष्ट बुद्धिवालों को सुधार दिया।

**रिषि हित राम सुकेतु सुता की ।**
**सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।**
**सहित दोष दुख दास दुरासा ।**
**दलइ राम जिमि रबि निसि नासा ।।**

– श्रीराम ने तो ऋषि विश्वामित्र के हितार्थ, सेना तथा पुत्र सुबाहु सहित सुकेतु-कन्या ताड़का का वध किया, परन्तु उनके नाम ने अपने भक्तों के दोषों, दु:खों तथा दुराशाओं का वैसे ही नाश कर दिया जैसे सूर्य रात्रि का।

**भंजेउ राम आपु भव चापू ।**
**भव भय भंजन नाम प्रतापू ।।**

– स्वयं श्रीराम ने तो भव अर्थात् शिवजी के धनुष को तोड़ दिया, परन्तु उनके नाम का प्रताप भव अर्थात् संसार के समस्त भयों का नाश करने वाला है।

**दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन ।**
**जन मन अमित नाम किए पावन ।।**

– श्रीराम ने तो एक दण्डक वन को ही सुहावना बना दिया, परन्तु उनके नाम ने असंख्य लोगों के मन को पवित्र बनाया।

**निसिचर निकर दले रघुनन्दन ।**
**नामु सकल कलि कलुष निकंदन ।।१/२४/३-८**

– श्रीराम ने तो राक्षसों के समूह को नष्ट किया, परन्तु उनका नाम कलियुग के सारे पापों का नाश करनेवाला है।

**सबरी गीध सुसेबकन्हि सुगति दीन्ह रघुनाथ ।**
**नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ।। १/२४**

– श्रीराम ने तो शबरी, गीध आदि उत्तम भक्तों को ही मुक्ति दी, परन्तु उनके नाम ने असंख्य पापियों का उद्धार किया। उनके नाम के गुणों की गाथा वेदों में भी प्रसिद्ध है।

नाम-रामायण का श्रीगणेश अहल्या-उद्धार से क्यों किया गया? इसमें निहित संकेत बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। वस्तुत: हर साधक के सामने जो समस्या आती है, यहाँ उसी ओर संकेत किया गया है। इस अहल्या-उद्धार के प्रसंग में जितने भी पात्र जुड़े हुए हैं, उनमें से ऐसा कोई भी नहीं है, जिसे हम राक्षसी वृत्ति का कह सकें। एक ओर लंका में तो दुर्गुण दिखाई देते ही हैं; यहाँ इन्द्र तथा अहल्या के चरित्र में भी दुर्गुण दिखाई देते हैं। इसका अर्थ यह है कि जहाँ असुरत्व होगा, वहाँ तो पूरी तरह से बुराई का राज्य है ही; पर ऐसा नहीं है कि जिसे हम देवत्व का पक्ष कहते हैं, उसमें दुर्गुणों की कमी होगी। सम्भव है कि साधक के सामने राक्षसत्व की समस्या न आये, पर देवत्व के द्वारा जो समस्या उत्पन्न होती है, वह तो हर साधक के जीवन में आती है। इसके केन्द्र में दो पात्र हैं, जिन्हें शाप मिलता है – इन्द्र और अहल्या।

**इन्द्र पुण्य का प्रतीक है ।** हमारी पौराणिक मान्यता यह है कि जिसने अपने जीवन में सौ अवश्वमेध यज्ञ कर लिये हो, वही संसार का सबसे बड़ा पुण्यात्मा होता है और उसी को इन्द्र का पद प्राप्त होता है। दूसरी ओर अहल्या है, जो ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न – ब्रह्मा की पुत्री और विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। **अहल्या बुद्धि का प्रतीक है ।**

पुण्य के साथ कोई समस्या है या नहीं? बुद्धि के साथ कोई समस्या है या नहीं? यदि हम पुण्यात्मा हैं, यदि हम पुण्य करते हैं, सत्कर्म करते हैं, तो क्या उस पुण्य या सत्कर्म मात्र से हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान हो जायेगा? इसी प्रकार यदि हम बड़े बुद्धिमान हों, हमारी बुद्धि बड़ी पैनी हो, सत्य का विश्लेषण करने तथा उसे समझने में सक्षम हो, तो उस बुद्धि में कोई समस्या आती है या नहीं? यहाँ बड़ा ही सुन्दर संकेत दिया गया कि पुण्य के साथ और बुद्धि के साथ भी कुछ समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। साधक के सामने प्रश्न यह है कि इन दोनों का समाधान कैसे हो।

पुण्य के साथ क्या समस्या है? असुरों में भोग-लालसा की वृत्ति तो है ही, पर प्रश्न उठता है कि पुण्यात्मा देवता क्या भोग-लालसा से मुक्त होते हैं? इसका उत्तर यह है कि

वस्तुत: भोग-लालसा तो राक्षसों के साथ ही देवताओं में भी दिखाई देती है। भोग की वृत्तियाँ बुरे व्यक्तियों के जीवन में तो प्रचण्ड रूप से होती ही है; किन्तु जो अच्छे लोग हैं, वे भी भोग-लालसा से मुक्त नहीं होते। भोग-लालसा व्यक्ति को किस ओर ले जा सकती है, इसका संकेत इन्द्र के चरित्र में दीख पड़ता है। इन्द्र देवता होकर भी जैसे छल का आश्रय लेकर अहल्या को पाने की चेष्टा करता है, उसमें संकेत यह है कि भोग-लालसा व्यक्ति को कितना विकृत बना सकती है कि जो उसे नहीं करना चाहिये, वह भी करने के लिये तैयार हो जाता है। यहाँ हम रावण तथा इन्द्र की तुलना कर सकते हैं। रावण सीताजी को और इन्द्र अहल्या को पाना चाहता है। दोनों ने साधु का वेश बनाया। रावण भी साधु का वेश बनाकर सीताजी के पास जाता है और इन्द्र भी गौतम का वेश बनाकर साधु के रूप में अहल्या के पास जाता है।

दोनों में छल और कपट की वृत्ति दिखाई दे रही है। वस्तुत: मनुष्य के अन्त:करण में जब वासना की वृत्ति आती है, तो ऐसा होना बड़ा स्वाभाविक है। हम कह सकते हैं कि तो फिर रावण तथा इन्द्र में अन्तर ही क्या है? अन्तर है। एक अन्तर तो यह है कि रावण यद्यपि सीताजी को पाने के लिये साधु का वेश बनाकर छल का आश्रय लेता है, पर सीताजी के सामने उसका वास्तविक रूप प्रगट हो जाता है और रावण ने भले ही उन्हें कुछ समय के लिये बन्दिनी बना लिया हो, पर अन्त में रावण का विनाश हो जाता है। दूसरी ओर इन्द्र की समस्या कुछ भिन्न है। जहाँ रावण को जीवन में अपने छल-कपट पर कभी पश्चाताप नहीं हुआ कि मैंने यह बुरा काम किया है, मुझसे बड़ा अपराध हो गया; वहीं इन्द्र की मन:स्थिति में अन्तर यह है कि इन्द्र तत्काल यह अनुभव कर लेता है कि उससे बहुत बड़ी भूल और अपराध हो गया है। जिस व्यक्ति के मन में बुराई के बाद भी पश्चाताप न हो, ग्लानि का उदय न हो, वह रावणत्व की वृत्ति से प्रेरित है। जैसे कोई व्यक्ति सर्वदा नशे में ही रहे, इसी प्रकार की यह राक्षसी वृत्ति है। ऐसे व्यक्ति के अन्त:करण में तीव्र वासना का प्रवाह – भोग-लालसा का नशा कभी उतरता ही नहीं। पर देवताओं के जीवन में जब यह नशा आता है, तो तीव्र तो उतना ही दिखाई देता है, पर उनकी वह स्थिति होती है, जैसे शराबी का नशा उतर जाने के बाद होता है –

**जिमि मद उतरि गएँ मतवारे ।। १/८५/३**

आपने देखा होगा कि कई व्यक्ति शराब पीकर, उन्मत्त होकर कैसा आचरण करते हैं, पर जब उनका नशा उतरता है और जब कोई उन्हें बताता है कि तुमने नशे में ऐसा-ऐसा किया है, तो उनके मन में ग्लानि और संकोच का भी उदय होता है। यह ग्लानि की मात्रा यदि बढ़ाई जा सके, तो वह बुराई से छूट भी सकता है। इस प्रकार एक ओर पुण्य के सामने भोग-लालसा की समस्या है।

दूसरी ओर बुद्धि रूपी अहल्या के सामने क्या समस्या है? वह और भी सूक्ष्म है। अहल्या ने गौतम को पूरी तरह से वरण किया है और वह निरन्तर गौतम की सेवा करती है। पर इतना होते हुये भी बुद्धि में कहीं-न-कहीं भोग की लालसा छिपी हुई है। इसको व्यवहार में भी देखें। मान लीजिये, जो व्यक्ति बड़ा बुद्धिवादी है या जिसने बुद्धि के द्वारा समझ लिया है कि संसार मिथ्या है, इसके भोग मिथ्या हैं, पर बुद्धि से जान लेने मात्र से ही क्या वह भोगों से पूर्णत: बच जाता है? जो लोग संसार को मिथ्या नहीं मानते, भोग को मिथ्या नहीं मानते, वे तो भोगों के लिये व्यग्र हैं ही, पर यदि आप इतिहास और पुराणों को उठाकर पढ़ें, तो आपको मिलेगा कि ऐसे व्यक्ति भी, जो तपस्वी हैं, विचारक हैं, बुद्धिमान हैं, उनके जीवन में भी स्खलन के अवसर आते हैं।

इसमें महत्त्व का सूत्र यह है कि बुद्धि के साथ मन की समस्या जुड़ी हुई है। एक व्यक्ति वह है जो बुद्धि तथा मन, दोनों से बुराइयों में डूबा है। दूसरा वह है, जो बुद्धि से तो बुराई को समझता है, पर बुद्धि के साथ मन भी तो जुड़ा हुआ है और मन का अपना स्वभाव होता है। बहुत-से ऐसे कार्य होते हैं, जिन्हें हम बुद्धि से अनुचित समझते हैं। हम लोगों में से बहुत-से ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बात करते समय कभी -कभी मुँह में उँगली डालने लगते हैं, कभी नाखून काटने लगते हैं। कोई बुद्धि के द्वारा ऐसा नहीं करता। उन्हें भी यदि याद दिलाया जाय तो, या स्वयं ही थोड़ी देर बाद वे कहते हैं, ''अरे, यह मैं क्या कर रहा था!''

ऐसा पूर्व अभ्यास के कारण होता है। व्यक्ति के सामने मन और बुद्धि का अन्तर्द्वन्द्व यह है कि बुद्धि के द्वारा हम एक सत्य को समझ तो रहे हैं, पर मन का सम्बन्ध तो न जाने कितने जन्मों के अभ्यास से है। गोस्वामीजी इसका परिणाम बताते हुए 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं –

**जनम जनम अभ्यास निरत चित**
**अधिक अधिक लपटाई ।। ८२/१**

अत: बुद्धि की शक्ति हर समय व्यक्ति की रक्षा नहीं कर पाती। कभी-कभी बुद्धिमान व्यक्ति पर भोग-लालसा की वृत्ति सवार हो जाती है। एक ओर लंका का काम मेघनाद है, जिसका वध कर दिया गया; पर क्या अहल्या का वध किया गया? क्या इन्द्र को मिटा दिया गया? गौतम चाहते तो शाप देकर इन्द्र को भस्म कर देते, अहल्या को भी राख की ढेरी बना देते। परन्तु इसमें बड़े महत्त्व का संकेत यह है कि पुण्य तथा बुद्धि में कितने भी दोष क्यों न हों, पर बुद्धि या पुण्य को मिटा देना उसका समाधान नहीं है। आप पुण्य या बुद्धि के दोषों को सुनकर यदि यह निर्णय कर लें कि अब कभी कोई पुण्य नहीं करेंगे और बुद्धि का भी कभी उपयोग नहीं

करेंगे, तब तो इससे बढ़कर कथा का दुरुपयोग क्या हो सकता है ! बुद्धि तथा सत्कर्म में चाहे जितने दोष हों, पर इनके बिना काम नहीं चलेगा । इनको मिटाने की जरूरत नहीं है, न उचित ही है; वस्तुत: इनके दोषों का शोधन करना होगा । इसीलिए महर्षि गौतम ने इसके लिये एक व्यवस्था दी । क्या व्यवस्था दी? उन्होंने इन्द्र को बताया कि भोगों का दोष है छिद्र । छिद्र का अभिप्राय यह है कि तुमने इतना पुण्य किया, सत्कर्म किया, इतना ऊँचा पद प्राप्त किया, परन्तु तुम्हारे मन में इस प्रकार की आसुरी वृत्ति आई; अब तुम्हीं बताओ, तुम्हारे जीवन में पुण्य कितने दिनों तक टिकेगा?

दूसरी ओर अहल्या को पत्थर बनाकर मानो उन्होंने यह संकेत किया कि बुद्धि चैतन्य है और विषय-भोग जड़ । आनन्द की खोज चल रही है । बुद्धि चैतन्य होने के नाते यदि वह आनन्द की खोज में ब्रह्म की ओर जाय, तो इसी में बुद्धि की सार्थकता है । परन्तु पत्थर बना देने का क्या तात्पर्य है? विषय तथा भोग – दोनों जड़ हैं और जो व्यक्ति जड़ पदार्थों के भोग में आनन्द की खोज कर रहा है, उसकी चैतन्यता भला किस काम की? उसमें तो अपने आप ही जड़ता आ गयी है । यह दण्ड बिलकुल सहज-स्वाभाविक है । यदि हम निरन्तर भोग-लालसा में संलग्न रहेंगे, तो हमारे पुण्य क्षीण हो जायेंगे और हमारी बुद्धि जड़ में आनन्द की खोज करेगी, तो उसमें जड़ता आ जायेगी ।

इन दोनों का निराकरण करने के लिए ही अब यहाँ नाम का सन्दर्भ प्रारम्भ होता है । हम नाम का जप करते हैं नाम की महिमा सुनते हैं, पर अपने जीवन में नाम-रामायण की प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करते । हमारी सबसे बड़ी समस्या यह है कि नाम की महिमा सुनकर भी हम नाम की शक्ति तथा महिमा का मनमाना दुरुपयोग तो करना चाहते हैं, पर उसका जिस दिशा में सदुपयोग होना चाहिए, उस दिशा में नहीं करते । तो कैसे पता चले कि हमारा नाम-जप ठीक-ठीक चल रहा है? क्या इसे जानने का उपाय है?

इसका उत्तर यह है कि जप करते हुए यदि अहल्या का उद्धार हो गया, जप करते हुए यदि (दुराशा रूपी) ताड़का का विनाश हो गया, तो नाम-रामायण सही दिशा में चल रहा है । परन्तु जप करते हुए भी यदि बुद्धि की जड़ता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, पुण्य के साथ भोग की लालसा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, तो इसका अर्थ है कि अभी हमारे जीवन में नाम-रामायण का आविर्भाव नहीं हुआ है; अभी नाम-रामायण हमारे जीवन में सक्रिय नहीं हुआ है ।

बिजली में अपार शक्ति है । उसमें प्रकाश करने की तथा और न जाने क्या-क्या करने की अपार सामर्थ्य है, पर क्या बिजली की शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जाता? क्या कई लोग चोरी से बिजली लेकर उसका मनमाना दुरुपयोग करते हुए नहीं सुने जाते? इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम नाम की अपार शक्ति को किस दिशा में लगा रहे हैं? इसकी कसौटी यह है कि हम नाम की शक्ति का तभी सदुपयोग कर रहे हैं, जब उसका बुद्धि और सत्कर्म के दोष को मिटाने के लिए प्रयोग करते हैं ।

किसी ने कबीरदासजी से कहा – "महाराज, मैंने तो नाम की महिमा सुनकर बहुत दिनों तक नाम का जप किया, परन्तु मुझे तो कोई लाभ नहीं हुआ ।"

कबीरदास जी तो अक्खड़ी भाषा के सन्त थे, उन्होंने कहा – "अच्छा भाई, यह बताओ कि कोई किसान बहुत बढ़िया खेत तैयार करे, उसमें बीज डाले, सिंचाई करे और जब खेत में अन्न लहलहाने लगे, तो उसमें अपने घर के पशुओं को ले जाकर छोड़ दे, तो उसे उस खेत से अन्न मिलेगा या नहीं?"

बोले – नहीं महाराज, तब तो नहीं मिलेगा ।

उन्होंने कहा कि जप की खेती तो तुम बहुत करते हो, पर जो बो रहे हो, वही अपने पशुओं को खिलाते जा रहे हो । अपने खेत में तुम कामनाओं के मृग को छोड़ देते हो –

**माया मृग काया बसै, कैसे उबरे खेत ।**
**जो बोवै सोई चरै, लगै न हरि सो हेत ।।**

वस्तुत: एक ओर तो हम जप करते हैं, भगवान का नाम लेते हैं और दूसरी ओर हम उसका उपयोग मन की वासनाओं की तृप्ति के लिए करते हैं । अर्थात् हम नाम का सही दिशा में उपयोग नहीं करते । नाम का सही दिशा में उपयोग क्या है और कैसे किया जाय? कैसे इस दोष का निराकरण हो?

अहल्या के उद्धार की प्रक्रिया यह है कि इसके लिये विश्वामित्र ही भगवान राम को लेकर आए । ताड़का के वध में और अहल्या के उद्धार में भी विश्वामित्र ही प्रेरक हैं । विश्वामित्र कौन हैं? ये ही गुरु हैं । गुरु की क्या भूमिका है?

जैसे यदि साग-भाजी बेचनेवाले साधारण व्यक्ति के सामने हीरा रख दिया जाय, तो वह उसे एक काँच का टुकड़ा या खेलने की वस्तु समझ सकता है । वह हीरे की महिमा से परिचित नहीं है । यदि हीरे का सही मूल्य जानना है, तो उसे जौहरी के पास ले जाना होगा । तो नाम-जप और नाम-महिमा के सन्दर्भ में यह जौहरी कौन है? सद्गुरु ही वह जौहरी है । भगवान राम तो अयोध्या में न जाने कितने वर्षों से अवतरित हो चुके थे, पर जब श्रीराम की महिमा से परिचित विश्वामित्र जैसे जौहरी आकर उन्हें ले जाते हैं और उनसे ताड़का-वध का अनुरोध करते हैं, तभी श्रीराम ताड़का का वध करते हैं । उनसे अहल्या के उद्धार का अनुरोध करते हैं और भगवान अहल्या का उद्धार करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि सबसे पहले हमें सन्तों या सद्गुरु के पास से नाम के मूल्य को – नाम की महिमा को ठीक-ठीक जानना होगा ।

एक ओर तो विश्वामित्र के साथ श्रीराम की यात्रा हो रही है और दूसरी ओर हमारे जीवन में नाम-जप की यात्रा चल रही है। अब इसे क्रम से विचार करके देखें। श्रीराम की यह यात्रा बड़े महत्त्व की है। यह अयोध्या से प्रारम्भ होती है और जनकपुर में जाकर इस यात्रा का एक रूप समाप्त होता है। अयोध्या से मिथिला की इस यात्रा का क्या अभिप्राय है? हमारा जप भी, जब प्रारम्भ हो, तो वह अयोध्या से प्रारम्भ हो; और उसका अन्तिम उद्देश्य मिथिला तक पहुँचना होना चाहिए। राम यदि अयोध्या में ही बने रहते, तो न ताड़का का वध होता और न अहल्या का उद्धार ही होता।

अयोध्या क्या है? यह विधि और धर्म का पक्ष है। जब नामजप का श्रीगणेश होता है, तो उसमें सबसे पहले विधि को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। आप सन्त या गुरु से पूछते हैं अथवा ग्रन्थों के द्वारा पढ़ते हैं कि जप करने की क्या विधि है? तब बताया जाता है कि जप करने के लिए कौन-सा आसन प्रयोग में लाया जाना चाहिए? गीता में भी संकेत है और उपासना के ग्रन्थों में भी बताया गया है कि किस आसन पर बैठकर हम जप करें! उसके बाद जप करने की विधि है। माला कैसी हो, किस वस्तु की हो? रामायण में आता है – श्री भरतजी जप करते हैं, तो कुशासन पर बैठे हुए हैं –

**बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात ।। ७/१ (ख)**

गीता (६/११) में भी कहा गया है कि कुशा घास, उस पर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर आसन स्थापित करे – **चैल-अजिन-कुशोत्तरम् ।**

इसका अभिप्राय है कि प्रकृति में जो अलग-अलग पदार्थ हैं, उनमें कुछ अलग-अलग विशेषताएँ हैं। हमारे शास्त्रों में कुश को अत्यन्त पवित्र माना गया है। आप हमारे कर्म-काण्डों में देखते होंगे – जितने भी उत्कृष्ट कर्म होते हैं, उनमें कुश का प्रयोग किया जाता है। कुश के या ऊनी आसन पर बैठकर जप करने का भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

इस प्रकार जप का श्रीगणेश होना विधि से ही चाहिए। इसका श्रीगणेश तो अयोध्या से ही होगा, पर विधि में एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि कुछ लोग अपने आपको विधि में बहुत उलझा लेते हैं और उनको उससे निकलकर आगे बढ़ने की प्रेरणा नहीं मिलती। जप में विधि का महत्त्व तो है, पर विधि ही सब कुछ नहीं है। आगे चलकर विधि से ऊपर भी उठना होगा। विधि से ऊपर उठने का क्या तात्पर्य है?

भक्ति के क्रम को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मिथिला सीताजी की नगरी है। सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं। जप का प्रारम्भ विधि से कीजिए और जप की यात्रा भक्ति तक होनी चाहिए। परन्तु जप करते-करते यदि हम सर्वदा आसन-शुद्धि पर ही ध्यान देते रहें। दिन भर हाथ-पैर ही धोते रहें, तो इससे क्या लाभ! कुछ लोगों को आप देखते हैं – उन्हें लगता है कि उनके हाथ में या पाँवों में कुछ लगा हुआ है। इसका परिणाम यह होता है कि वे जब देखो तभी, दिन भर स्वच्छता की बड़ी चिन्ता करते रहते हैं। यदि कोई दिन-रात यही चिन्ता करे कि कपड़े कहीं गन्दे न हो जायँ, उन्हें धोता ही रहे और पहने कभी नहीं, तो इससे बढ़कर नासमझी और क्या होगी! कपड़ा साफ रखने के लिये और पहनने के लिये ही धोया जाता है। तो फिर विधि की क्या उपयोगिता है?

इसे समझने के लिये हमें भक्ति का जो क्रम बताया गया है, उस पर ध्यान देना होगा। भक्ति दो प्रकार की है – वैधी भक्ति और रागानुगा भक्ति। भक्ति विधि से शुरू होती है। जब हम विधिपूर्वक भक्ति करें, तो वह वैधी भक्ति है और जब अन्त:करण में अनुराग का उदय हो जाय, तो सम्भव है कि अनुराग के वेग में कोई विधि छूट जाय। यदि अनुराग छूट जाय, तो विधि कुछ नहीं कर पायेगी; परन्तु विधि में कुछ छूट भी आ गया और अनुराग की वृत्ति बनी हुई है, तो कार्य सिद्ध होगा। नि:सन्देह अनुराग ही सबसे महत्त्व की वस्तु है। जप को श्रीभरत के जप के समान पूर्ण होना चाहिए, क्योंकि श्रीभरत मूर्तिमान प्रेम हैं। प्रेमपूर्वक जप कैसे किया जाता है, इसका वर्णन गोस्वामीजी ने श्रीभरत के प्रसंग में किया है। हनुमानजी अयोध्या जाकर श्रीभरत का दर्शन करते हैं। देखते हैं कि श्रीभरत जप कर रहे हैं। विधि वहाँ भी है, वे कुशासन पर बैठे हैं, पर कैसे जप कर रहे हैं? मुख से 'राम-राम, रघुपति' का जप हो रहा है और नेत्रों से प्रेमाश्रु बह रहे हैं –

**बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात ।**
**राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात ।। ७/१**

निरन्तर रस का, प्रेम का संचार हो रहा है। तो विधि के द्वारा हमारे हृदय में प्रेम और रस का संचार होना चाहिये।

श्रीराम और लक्ष्मण अयोध्या में हैं। महाराज दशरथ उन्हें नित्य देखते हैं और उन्हें देखकर बड़ा सुख तथा आनन्द पाते हैं, उनकी लीलाओं का रसास्वादन करते हैं, पर इससे आगे की बात उनके द्वारा सम्पन्न नहीं होता। ऐसे भी लोग होते हैं, जिन्हें नाम-जप करके प्रसन्नता की अनुभूति होती है। नाम-जप करना स्वयं में आनन्द की उपलब्धि का एक साधन है। जब आप एक घण्टा अपने नियम का पालन कर लेते हैं, तो बड़े प्रसन्न होते हैं कि इस विधि और नियम का पालन हुआ।

परन्तु नाम के द्वारा यदि हम केवल एक क्षणिक आनन्द प्राप्त कर लें, तो इतना ही पर्याप्त नहीं है। विषयों से हमें क्षण भर का आनन्द मिले और नाम से भी क्षण भर का आनन्द मिले; और हमारे जीवन में आगे चलकर जो ताड़का तथा अहल्या की जो समस्या आती है, उसका समाधान न हो, तो यह नाम का सदुपयोग नहीं हुआ।

अब हमें एक ऐसे सन्त की आवश्यकता है, जो नाम की महिमा से परिचित हों। इस यात्रा में राम तथा लक्ष्मण ही

मानो 'राम-नाम' है और विश्वामित्र रूपी सद्‌गुरु उन्हें साथ लेकर जा रहे हैं। गौतम ऋषि ने अहल्या को शाप दिया और जब अहल्या का उद्धार हुआ, तो उन्होंने एक बहुत बढ़िया बात कही। कई लोगों का एक बड़ा विचित्र स्वभाव होता है कि एक व्यक्ति की प्रशंसा करेंगे, तो दूसरे की निन्दा जरूर करेंगे। आप तो बड़े अच्छे हैं, मगर वह अच्छा नहीं है। यह कहने की क्या आवश्यकता थी? आपको कोई अच्छा लगता है, तो आप उसकी प्रशंसा कर दीजिए। परन्तु लोगों को भी बड़ा सन्तोष होता है, लोग करते भी इसीलिए हैं कि जब किसी से अपनी तुलना करके प्रशंसा होती है, तो आनन्द और भी बढ़ जाता है। यह अभिमान की वृति किसी दूसरे के सहारे के बिना खड़ी ही नहीं हो सकती। बेचारा अभिमानी लंगड़ा होता है। उसे सहारा चाहिए। इसीलिये कई लोगों को प्रशंसा का आनन्द तभी आता है, जब साथ में किसी की निन्दा भी अवश्य की जाय।

कबन्ध-वध के प्रसंग में एक बहुत बढ़िया बात आती है। कबन्ध एक ऐसा दैत्य था, जिसके सारे अंग तो थे, पर सिर नहीं था। भगवान ने जब उसे मारा, तो उसने तुरन्त भगवान की प्रशंसा तो की कि आप कितने अच्छे हैं, पर साथ ही यह जरूर कह दिया कि ये दुर्वासा ऋषि कितने बुरे हैं! – प्रभो, वे तो बड़े क्रोधी ब्राह्मण थे, इसलिये मुझे शाप दे दिया, परन्तु आपके चरणों का दर्शन करने से वह पाप मिट गया –

**दुरबासा मोहि दीन्ही सापा।**
**प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा।। ३/३३/७**

फिर इसके बाद भगवान ने ब्राह्मणों की जो प्रशंसा कर दी, उससे कई लोग चिढ़ जाते हैं, परन्तु वस्तुत: यह तो कबन्ध पर व्यंग्य था। इसका अभिप्राय यह था कि यदि कोई व्यक्ति शरीर के किसी अंग की निन्दा करे या किसी एक ही अंग को निन्दनीय मान ले, तो उसकी दृष्टि अधूरी है। उसने यह बताने की चेष्टा की कि दुर्वासा कितने क्रोधी हैं और आप कितने अच्छे हैं। भगवान को यह प्रशंसा बिलकुल अच्छी नहीं लगी कि दुर्वासा की निन्दा करने के बाद मेरी प्रशंसा कर रहा है। भगवान ने कह दिया – शाप देता हुआ, मारता हुआ या कठोर वचन कहता हुआ भी विप्र पूजनीय है –

**सापत ताड़त परुष कहंता।**
**बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।। ३/३४/१**

मानो उसकी घोर तमोमयी वृत्ति का निषेध करने के लिए ही भगवान कहते हैं कि तुम उनकी निन्दा क्यों करते हो? दूसरी ओर यहाँ अहल्या को देख लीजिए। अहल्या का भगवान ने उद्धार किया और उसके बाद वे चैतन्य हो गयीं। अहल्या भी भगवान से कह सकती थी – ''महाराज, हमारे पति इतने क्रोधी हैं कि मैंने जीवन भर उनकी सेवा की, उसे भूल गये और एक क्षण के लिए मुझसे भूल हो गई, तो उन्होंने मुझे पत्थर बना दिया।'' परन्तु यदि ऐसा होता, तो बुद्धि पवित्र नहीं होती। अहल्या जिस समय चैतन्य हुई, तो उसको महर्षि गौतम की याद आई; और उनकी याद करके वह कहने लगी – प्रभो, मैं आपके प्रति तो कृतज्ञ हूँ ही, पर अपने पतिदेव के ऊपर मैं बहुत अधिक कृतज्ञ हूँ, क्योंकि उन्होंने शाप देकर मेरा अत्यन्त उपकार किया –

**मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा ...। १/२११**

यह दो दृष्टियों का भेद है। कबन्ध कहता है – दुर्वासा बुरे हैं, क्रोधी हैं; और अहल्या कहती है – मुनिजी कितने अच्छे हैं; लोगों को लगा कि वे शाप दे रहे हैं, दण्ड दे रहे हैं, लेकिन दण्ड के रूप में पुरस्कार कैसे दिया जाता है, यह तो कोई हमारे पतिदेव से सीखे। – कैसे? बोली – अहो, मेरे पतिदेव ने मुझे शाप देकर मेरा कितना भला किया; मैं तो इसे उनका परम अनुग्रह मानती हूँ, क्योंकि इसी के फलस्वरूप मुझे उन संसार से छुड़ानेवाले श्रीहरि का जी भर कर दर्शन हुआ; शंकरजी भी इसी को परम लाभ मानते हैं –

**मुनि साप जो दीन्हा अति भल कीन्हा**
**परम अनुग्रह मैं माना।**
**देखेउँ भरि लोचन हरि भव मोचन**
**इहइ लाभ संकर जाना।। १/२१०/३**

बुद्धि रूपी अहल्या जब तक ईश्वर को न पा ले, तब तक हम चाहे कितने भी समझदार क्यों न हों, हम धोखा खाएँगे।

तो भगवान शंकर ने भी आपको प्राप्त किया। भगवान शंकर भी आपके सौन्दर्य का दर्शन किया करते हैं। शंकरजी कौन हैं? उनका नाम ही कामारि है। जिसने काम को जला दिया है, जो भोग-वासना को मिटा चुका है, वही ईश्वर को प्राप्त करने में सक्षम है। उसी ने ईश्वर को प्राप्त किया है।

अहल्या बोली – देखिए महाराज, भगवान शंकर ने तो काम को जीतकर आपको पाया है; परन्तु हमारे पतिदेव ने तो ऐसा मार्ग बना दिया कि मैंने कामग्रस्त होकर भी आपको पा लिया। उल्टी बात हो गई। मैं तो कामग्रस्ता हूँ न, पर पतिदेव ने कैसा मार्ग बना दिया! बोली – महाराज, शंकरजी में और मुझमें अन्तर यही है कि शंकरजी को आपका दर्शन करने के लिए अयोध्या जाना पड़ता है और मुझे दर्शन देने के लिए आपको स्वयं चलकर आना पड़ा।

इसका अभिप्राय यह है कि जिनमें साधना की क्षमता है, वे चलकर आपके पास जाते हैं, पर जो असमर्थ हैं, उनके लिए आप स्वयं ही कृपा करने आते हैं। हमारे पतिदेव ने तो क्रोध के रूप में हमें दण्ड नहीं दिया, अपितु अति उत्कृष्ट कृपा का प्रदर्शन किया। इसका तात्पर्य यह है कि जप करते हुए जब हमें यह बोध हो कि हमारी बुद्धि जड़तायुक्त हो चुकी है, तो उसका उद्धार करने के लिए सद्‌गुरु की आवश्यकता होती है।

❖ (क्रमश:) ❖

# दुख में सुख

*रामेश्वर टांटिया*

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमशः उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

पुराने जमाने में, राजस्थान में ऐसी मान्यता थी कि यदि किसी व्यक्ति की अर्थी में पुत्र का हाथ न लगे या क्रिया-कर्म के लिये पुत्र न हो, तो उसे मोक्ष नहीं मिलती। इसीलिये वहाँ निपूते की गाली बहुत बुरी मानी जाती थी। पुत्र-प्राप्ति के लिये लोग व्रत-पूजन और कठोर तपस्या करते थे।

शेखावाटी अंचल के एक शहर में धनाढ्य सेठ थे। घर सब प्रकार की धन-सम्पत्ति से भरा-पूरा होने पर भी सन्तान के बिना पति-पत्नी दुखी रहते थे। उन्होंने तरह-तरह के व्रत-उपवास, दान-धर्म और तीर्थ-यात्रा की, पर ईश्वर ने उनकी नहीं सुनी। प्रौढ़ावस्था हो जाने पर वे एक तरह से निराश हो गये। पड़ोस में उन्हीं की जाति का एक गरीब परिवार था, जिनके यहाँ सात लड़के थे। एक दिन पति-पत्नी उनके घर गये। देखा कि २-३ वर्ष से लेकर १४-१६ वर्ष तक के बच्चे आंगन में खेल रहे थे। उन्हें देखकर दोनों की आँखें भर आई। सेठानी ने गृहस्वामिनी से कहा – "बहन, लोग मुझे निपूती कहकर ताना देते हैं। तुम्हारे सेठजी जब दुकान से सूने घर में आते हैं, तो दुखी-से रहते हैं। मैं आँचल पसार कर तुमसे एक बच्चे की भीख माँग रही हूँ। परमेश्वर ने तुम्हें सात दिये हैं, इनमें से सात सौ हो जाये।" बहुत आरजू-मिन्नत के बाद भी उन लोगों को निराश वापस लौटना पड़ा।

फतेहपुर (शेखावाटी) के पास एक टीले पर नाथ सम्प्रदाय के एक महात्माजी रहते थे। सब प्रकार से निराश होकर एक दिन वे उनकी शरण में गये और पैर पकड़कर रोने लगे। कहते हैं कि नाथजी महाराज वचनसिद्ध थे। उन्होंने कहा – "अकाल का वर्ष है। भूखे-नंगे बच्चों का पालन करो, भगवान तुम्हारी सुनेगा।" अपने गाँव लौटकर वे लोग एक बड़े नोहरे में गरीबों के भूखे बच्चों को खिलाने-पिलाने लगे। दोनों पति-पत्नी सारे दिन उनकी देख-भाल करते रहते।

एक वर्ष के भीतर ही उनके घर में पुत्र जन्म हुआ। उस अवसर पर सेठजी ने जी खोलकर दान-धर्म और पूजा-पाठ किया। सारे गाँव में मिश्री-बादाम भेजे। बच्चे को लेकर वे नाथजी महाराज की सेवा में गये। महाराजजी ने कहा – "आप दोनों की आयु भगवान के भजन करने की है। संसार की मोह-माया में जितना कम पड़ो, उतना ही अच्छा।"

सेठ-सेठानी उस समय इतने हर्ष-विभोर थे कि नाथजी की इस गूढ़ बात पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

सुख के दिन बीतते देर नहीं लगती। देखते-देखते शिशु बिहारी सोलह साल का तरुण हो गया। वह बहुत ही सुन्दर स्वस्थ, शिक्षित तथा विनयशील था।

दीपावली के बाद वे दोनों प्रतिवर्ष बिहारी के साथ महाराजजी के पास धोक खाने को जाते थे। इस बार उन्होंने जब उसका विवाह करने की आज्ञा चाही, तो महाराजजी ने टाल-मटोल कर दी और कहा कि इतनी जल्दी क्या है? लाड़-प्यार का इकलौता बालक था। सेठ-सेठानी कभी उसे आँखों से ओझल नहीं होने देते। कभी-कदाच उसका पेट या सिर दुखने लगता, तो वैद्य-डाक्टर से घर भर जाता। परन्तु कहते हैं कि मृत्यु अपने लिये सौ रास्ते बना लेती है।

राजस्थान में जिस दिन अच्छी वर्षा हो जाती है, लोग हर्ष-विभोर होकर देखने जाते हैं कि तालाब में कितना पानी जमा हुआ। पानी को माथे से लगाकर आचमन करते हैं।

ऐसे ही एक दिन बिहारी मित्रों के साथ गाँव के जोहड़े पर गया था। आचमन करते समय उसका पैर फिसल गया और वह क्षण भर में ही जलमग्न हो गया। तालाब बहुत बड़ा भी नहीं था, परन्तु साथियों के बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ फल नहीं निकला। सेठ-सेठानी का बुरा हाल था। पागल जैसे हो गये, स्वयं भी तालाब में डूबने के लिये जिद्द करने लगे, लोगों ने मुश्किल से उन्हें पकड़े रखा।

दूसरे दिन ही दोनों महाराजजी के टीले पर जाकर उनके पैर पड़कर बैठ गये। कहने लगे कि आपने हमें इस बुढ़ापे में उल्टा दुखी कर दिया, इससे तो अच्छा होता कि हमारे पुत्र ही न पैदा होता। महाराजजी ने समझाने का प्रयत्न किया कि जो कुछ होता है, सब ईश्वर की इच्छा से होता है और मनुष्य को उसे शिरोधार्य करना चाहिये। बिहारी के साथ तुम्हारा इतने ही दिनों का सम्बन्ध था।

बहुत विनती-प्रार्थना पर महाराज ने कहा कि गरीब और

( **शेष अगले पृष्ठ पर** )

# आत्माराम के संस्मरण (१५)

*स्वामी जपानन्द*

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

## बड़ौदा के अनुभव

भरूच के मार्ग में बड़ौदा पहुँचा। मन में बड़ौदा के प्रति थोड़ा आकर्षण तो था ही ! श्री अरविन्द कभी बड़ौदा में रहते थे और उन्हीं के विशेष आग्रह पर भगिनी निवेदिता भी वहाँ गयी थीं, ताकि कोलकाता में देशात्म-बोध जाग्रत हो। उनका वह उद्देश्य सफल हुआ था। इसके अतिरिक्त बड़ौदा का म्यूजियम तथा ग्रन्थालय आदि के वैशिष्ट्य की बातें सुनने में आयी थीं, इसीलिये उन्हें भी देखने की इच्छा थी।

वहाँ ज्योंही उतरा, त्योंही एक हृष्ट-पुष्ट महाराष्ट्रीय आकर हाजिर हुए। – "आइये स्वामीजी, आप क्या बंगाली हैं?"

संन्यासी – "यह शरीर उसी प्रदेश में जन्मा है, परन्तु मैं तो सभी देशों का हूँ।"

वे हँसकर बोले – "सो तो है, संन्यासी तो सब देशों का होगा ही ! अच्छा, बड़ौदा किस उद्देश्य से आना हुआ है?"

संन्यासी – "देखने के लिये।"

– "कहाँ ठहरेंगे?"

– "नहीं पता ! आप जरूर पुलिस के आदमी हैं। बता दीजिये कहाँ रहने से आप लोगों को असुविधा नहीं होगी?"

(थोड़ा सोचकर) – "चलिये मेरे साथ।" यह कहकर वे साथ लेकर एक शिव-मन्दिर में ले गये और पुजारी से कहकर रहने का स्थान दिलवाया।

– "कुछ खाना हुआ है क्या?"

(उस समय ११-११.३० का समय हुआ था।) – "नहीं। देखता हूँ यदि कुछ पूरियाँ या कचौड़ियाँ मिलें।"

– "मैं ही ला देता हूँ। पुलिस का कार्य तो पेट के लिये करता हूँ। मेरा भी तो साधु-सेवा करने का अधिकार है !"

वे गरम-गरम पूरियाँ ले आये।

खाना हो जाने पर बोले – "मैं आपको आदमी देता हूँ। वह आपको सारे दर्शनीय स्थान दिखा देगा।"

अच्छा ही हुआ। उस व्यक्ति ने अच्छी तरह बड़ौदा के सारे दर्शनीय स्थानों को दिखा दिया और उसके बाद नागा साधुओं के एक अखाड़े में ले गया। वहाँ चरस का चिलम चढ़ा हुआ था। चारों ओर धुँआ-ही-धुँआ फैला था। वह व्यक्ति भी पुलिस का ही था और लगा कि उन साधुओं का परिचित है। उसने मुझे बैठाकर कहा कि वह भोजन करने के बाद आकर मुझे ले जायेगा; और चला गया।

महन्त बोले – "आप क्या पुलिस के आदमी हैं? आज कल अनेक पुलिसवाले साधु के वेश में घूमते हैं।

बोला – "नहीं, वह तो मेरे ऊपर नजर रखने के लिये मेरे साथ घूम रहा है। वह जरूर पुलिस का आदमी है।"

## नर्मदातट – काष्ठमौन व्रत (१९२०-२१)

नर्मदा के किनारे भ्रमण करता हुआ संन्यासी भरूच आ पहुँचा। इसका पौराणिक नाम भृगुकच्छ है। वहाँ नर्मदा के दशाश्वमेध घाट पर स्नान करने के बाद उसने निर्जन एकान्त में स्थित एक शिव-मन्दिर में आश्रय लिया। भिक्षा का समय हो जाने पर वह शहर में जाकर भिक्षा करने निकला। किसी समृद्धिशाली के मकान के सामने 'नारायण हरि' कहते ही एक वृद्ध ने हाथ-पाँव-मुख को विकृत बनाकर रोचक गुजराती भाषा में संन्यासी का "स्वागत" किया।

'प्रथम ग्रासे' ही मक्षिका-पात् हो जाने के बाद क्षुब्ध होकर

### पिछले पृष्ठ का शेषांश

अनाथ बच्चों के लिये के स्कूल खोलकर उनकी पढ़ाई की और रहने-खाने की व्यवस्था करो।

सेठजी ने अपने एक मकान में इस प्रकार के छोटे बच्चों का एक स्कूल खोल दिया। दोनों पति-पत्नी दूसरे सारे कार्यों को छोड़कर सुबह से शाम तक उनकी शिक्षा, देखभाल और खिलाने-पिलाने की व्यवस्था करने लगे। बच्चे उनसे इतने हिल-मिल गये कि उन्हें 'माताजी' 'पिताजी' कहने लगे। वे कभी उनकी गोद में आकर बैठ जाते, तो कभी पीछे से आकर आँखें बन्द कर देते। कभी-कदाच कोई बच्चा बीमार हो जाता, तो उनके हाथ से दवा लेने की जिद्द करने लगता।

सदा की भाँति, दीपावली के बाद वे दोनों दर्शन और चरण-स्पर्श के लिये महाराजजी के पास गये। उन्होंने पति-पत्नी को सुखी रहने का आशीष दिया और हाल-चाल पूछा। सेठ-सेठानी का उत्तर था, "महाराज आपके आदेश का हम पालन कर रहे हैं। अब हम सुखी हैं, परम सुखी ! हमें पाठशाला के बच्चों में अपना बिहारी मिल गया है। ❑❑❑

संन्यासी भिक्षा की चेष्टा में एक अन्य मकान के सामने गया। यह मकान एक ब्राह्मण का था। ब्राह्मण ने एक घण्टे बाद आने को कहा, क्योंकि भोजन बना नहीं था। और यह भी कहा – "उस मकान पर क्यों गये थे? वह तो जैन लोगों का घर है; वे सनातन धर्म के विद्वेषी हैं।"

संन्यासी वहाँ से एक अन्य द्वार पर पहुँचा, परन्तु तीन बार 'नारायण हरि' बोलने के बावजूद किसी के भी उत्तर न देने पर, आखिरकार भिक्षा की आशा छोड़कर यह सोचते हुए कि 'आज लगता है कि भाग्य में उपवास ही लिखा है', उसी शिव-मन्दिर की ओर लौट चला, जहाँ उसने आसन लगा रखा था। भूख जोरों की लगी थी, अत: अंजलि भर-भर कर नर्मदा का जल पी लिया।

अपराह्न के लगभग ३ बजे थे। एक महाराष्ट्रीय ब्रह्मचारी, दो अन्य महाराष्ट्रीय सज्जनों को साथ लिये हाजिर हुए और संन्यासी से पूछने पर जब पता चला कि भिक्षा नहीं हुई है, तो उन लोगों को तत्काल दुकान से पूरी-सब्जी या रोटियाँ – जो भी उपलब्ध हो, ले आने को भेज दिया। बोले – "वहाँ आसन लगाने के कारण भूल हुई है। उधर कोई आता नहीं।" सुबह उन्होंने संन्यासी को देखा था। दोपहर को भी बैठे देखकर उन्हें लगा कि अवश्य इनकी भिक्षा नहीं हुई है। सचमुच ही नहीं हुई थी। बोले – ये दोनों ही भावुक भक्त हैं। आप जितने दिन भी यहाँ हैं, ये लोग भिक्षा ला देंगे।" यह कहकर उन्होंने संन्यासी को निश्चिन्त किया।

वहाँ तीन रात निवास करने के बाद भरूच की ओर चल पड़ा। वहीं काष्ठ-मौन व्रत लेने का संकल्प लेकर नर्मदा के किनारे-किनारे अरब-सागर की ओर अग्रसर हुआ। ८-९ मील चलने के बाद एक काफी बड़ा गाँव पड़ा, नाम शायद भरकुट था। नर्मदा के ठीक ऊपर सुन्दर घाट था, शिवजी का एक मन्दिर था और उससे लगे हुए पीपल के वृक्ष के नीचे बँधा हुआ चबूतरा था।

स्नान करने के बाद संन्यासी वृक्ष के नीचे के उसी चबूतरे पर बैठा। (समुद्र के निकट होने के कारण वहाँ नर्मदा का जल नमकीन है।) वहाँ बैठा रहा। खूब भूख लगी थी। देखा – गाँव के लोग आकर स्नान तथा देव-दर्शन करते हैं और चले जाते हैं। लगभग तीन बजे एक खूब सौम्य-मूर्ति व्यक्ति आये। संन्यासी को देखने के बाद मन्दिर में गये, फिर बाहर आकर पूछा – भिक्षा हुई है या नहीं? परन्तु काष्ठ-मौन व्रत में तो इशारे से भी कुछ नहीं कहा जा सकता, आँखों से भी संकेत नहीं किया जा सकता। इसलिये संन्यासी आँखें झुकाये मौन बैठा रहा। वे मन्दिर में गये और पुजारी को साथ लाकर संन्यासी को दिखाते हुए उससे पूछा – "इन्हें भिक्षा दी गयी है, या नहीं?" – "नहीं" – कहने पर वे बोले – "क्यों नहीं दी गयी?" पुजारी ने कहा – "उन्होंने माँगा नहीं। मैं कैसे जानता कि वे खायेंगे या नहीं!" उनके कहने पर पुजारी बाजरे की रोटियाँ तथा दाल ले आया। उसे संन्यासी के सामने रख दिया गया। भूख तो खूब लगी थी, परन्तु समय पर अन्न न मिलने के कारण शान्त हो गयी थी। संन्यासी ने आनन्दपूर्वक खाया। तब आदेश हुआ – "प्रतिदिन दोपहर में खाना बन जाने पर भिक्षा को लाकर सामने रख दिया जाय।" उनकी दया से इस प्रकार हर रोज बाजरे की रोटियाँ तथा दाल जुटने लगा।

दिन में एक बार जो अन्न मिलता था, उसी से काम चल जाता था। अन्य किसी चीज की जरूरत महसूस नहीं होती थी। पर एक समस्या खड़ी हुई। हर रोज २-४ लोग आकर सुबह, शाम और रात १०-११ बजे तक संन्यासी के पास बैठे रहते और आपस में दुनिया भर की बातें करते रहते। साथ में बीड़ी और तम्बाकू का सेवन भी खूब चलता। सोचा कि जब ये लोग देखेंगे कि संन्यासी बातें ही नहीं करता, तो २-४ दिन बाद खुद ही आना बन्द कर देंगे। पर हे भगवान, लोगों की संख्या बढ़ती ही गयी। अब क्या किया जाय?

सुबह शौच आदि करने संन्यासी काफी दूर चला जाता था। एक दिन करीब मील भर दूर जाकर देखा कि वहाँ एक विशाल वटवृक्ष है, बहुत-से टूटे-फूटे मन्दिर हैं और एक कूँआ भी है। साथ में रस्सी थी। कमण्डलु से पानी खींचकर देखा – खारापन था, पीना कठिन था। ठीक उसी समय एक वृद्ध वैष्णव उस टूटे हुए मन्दिर के बीच से निकल आये और बोले – "गरम किये बिना इस पानी को पीया नहीं जा सकता।" उन्होंने थोड़ा-सा गरम किया हुआ पानी ला भी दिया। साथ ही उन्होंने चाय के लिये निमंत्रण भी दिया। चाय पीते समय वे बोले – "तुम मौन हो। यहाँ अच्छा एकान्त है। चले आओ। मैं भिक्षा की व्यवस्था कर दूँगा।" वाह! संन्यासी यही तो चाहता था।

अगले दिन भोर में चुपचाप आसन लेकर चला आया और उस वटवृक्ष के नीचे बालू के ऊपर अड्डा जमा दिया। थोड़ी देर बाद संन्यासी को देखते ही वह वैरागी चाय ले आया और यह कहकर चला गया कि भिक्षा करके लौटने के बाद भोजन पकाकर खाने को देगा। संन्यासी को नहीं मालूम कि वह कब लौटा, लेकिन लगभग डेढ़ बजे वह हलुआ, पूरियाँ तथा आलू की सब्जी लेकर हाजिर हुआ; और वह भी काफी मात्रा में। उस निर्जन वटवृक्ष के नीचे अच्छा भोज हुआ। संन्यासी सोचने लगा – यह रहता तो जंगल में है, गाँव यहाँ से आधा-एक मील दूर होगा, तो भी इतनी सब व्यवस्था रखता है!

प्रतिदिन सुबह-शाम चाय और एक या डेढ़ बजे घी में पका प्रचुर आहार पाकर संन्यासी मन-ही-मन जगदम्बा की लीला के बारे में सोचने लगा। इस जंगल के भीतर भी उन्होंने ऐसी व्यवस्था की! उस वृद्ध वैरागी के सिवा लोगों

की कोई भीड़भाड़ नहीं। तीन-चार दिन खूब आनन्दपूर्वक बीतने के बाद वैरागी ने कहा – "आज शाम को कहीं घूमने मत जाइयेगा। इस गाँव के जागीरदार आयेंगे। वे ही आपकी भिक्षा के लिये सब देते हैं।" मामला तब समझ में आया।

अपराह्न में ३-४ बजे दो बैलगाड़ियों में घर की महिलाओं को साथ लेकर जागीरदार आ पहुँचे। आकर सामने बैठे और बहुत-सी बातें कहने लगे। संन्यासी मौन बैठा रहा। बोले कि वे उन्हें अच्छी तरह पकाकर खिलाने के लिये हर रोज वैरागी को एक पाव घी, अच्छी चाय, आलू, मसाला और ताजा पीसा हुआ आटा देते हैं। वह खिलाता है न? संन्यासी चुप रहा। – "यहीं रहिये। बरसात में कुटिया बनवा दूँगा। भिक्षा का कोई कष्ट नहीं होगा। यह जमीन मेरी है।" आदि आदि। करीब डेढ़ घण्टे बिताने के बाद सभी लोग लौट गये। प्रतिदिन जो घी में पका हुआ भोजन खिला रहा था, उसका स्रोत संन्यासी की समझ में आ गया।

हे भगवान! अगले दिन करीब दस बजे ४-५ बैलगाड़ियों में भरकर लोग आ पहुँचे। बड़े-बड़े हण्डे उतारे गये। फिर दरियाँ बिछाकर सब लोग संन्यासी के पास ही बैठे। बताया कि उन्हीं लोगों का भोजन खाना होगा। संन्यासी चुप रहा। वैरागी ने बताया कि ये सभी लोग दूसरे गाँव के हैं, दर्शन करने आये हैं। आज वे ही लोग भिक्षा देंगे। लड्डू और दाल, सब्जी आदि बनाते-बनाते करीब दो बज गये। इसके बाद संन्यासी को खिलाकर और स्वयं खाकर आराम करने के बाद संध्या के समय सब लौट गये। दो दिन बाद फिर बहुत-सी गाड़ियों में अनेक लोग आये। भोजन आदि पकाया, संन्यासी के सामने बैठे-बैठे तरह-तरह की बातें कीं – कई योगिराजों की चर्चा हुई। उसके बाद वैसे ही खिलाकर और खाकर संध्या को चले गये। उसके बाद वाले दिन एक टोली और भी आयी। वैरागी ने बताया कि आसपास के गाँवों के लोग जान गये हैं कि एक त्यागी संन्यासी आया हुआ है, इसीलिये वे लोग दर्शन करने आ रहे हैं। इसी प्रकार और भी बहुत-से लोग आयेंगे। संन्यासी बड़ी मुश्किल में पड़ा। वैसे ये लोग रात में नहीं ठहरते थे, परन्तु नित्य का यह शोरगुल उसे पसन्द नहीं आ रहा था। इसलिये जिस प्रकार एक दिन वह वहाँ आया था, उसी प्रकार चुपचाप उस स्थान को त्यागकर समुद्र की ओर चल पड़ा।

रास्ते में वह तेज धूप से परेशान होकर स्नान करके शरीर को ठण्डा करने के लिये नर्मदा में उतरा। नदी में उस समय भाटा चल रहा था। चलते-चलते उसे घुटने भर भी पानी नहीं मिला। समुद्र के पास होने के कारण नर्मदा में कीचड़ भरा हुआ था। तट से काफी दूर जाने के बाद एक जगह घुटने भर पानी मिला। वहाँ जाकर पानी में बैठते ही एक पाँव आधे से अधिक बालू के भीतर घुस गया और उस स्थान में कम्पन होने लगा। सर्वनाश! यह तो दलदल है। हिलना-डूलना करते ही ग्रास कर लेगा। अब क्या किया जाय? आसपास कोई बस्ती भी नहीं थी। स्थान बिलकुल निर्जन था। – "ओह, तो क्या जगदम्बा की यही इच्छा है कि यह शरीर नर्मदा में रह जाय!"

सहसा 'सों'-'सों' की आवाज उठी, जो समुद्र की ओर से आ रही थी। सोचा कि शायद कोई स्टीमर आ रहा है। परन्तु कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। दिखाई दे रहा था – लाल रंग का ऊँचा पानी। थोड़ी देर बाद देखा कि वह उसी ओर चला आ रहा था। इधर के पानी के स्तर में वृद्धि होने से समझा कि ज्वार आ रहा है। बस, सब समाप्त! संन्यासी आँखें बन्द करके नाम-जप और इष्ट-स्मरण करने लगा। दुमंजले मकान की ऊँचाई का पानी सर-सर चला आ रहा था। बचने का कोई उपाय नहीं था। बड़े ज्वार के पूर्व ५-७ हाथ ऊँचा एक छोटा ज्वार का धक्का आया। उसने संन्यासी को एक ही बार में उठाकर मछली के समान धड़ाम से बिलकुल किनारे फेंक दिया। किनारे पर दो-चार बार लोटने के बाद संन्यासी उठ खड़ा हुआ। इसके बाद वह ऊँचा ज्वार भी आ पहुँचा। उसके मुख में पड़ने से तो बचने की जरा भी आशा नहीं थी। माँ ने ही शरीर की रक्षा की। उनकी इच्छा – कौन समझेगा कि उनका उद्देश्य क्या है!

चोट जरा-सी ही लगी थी। दाहिने कन्धे में कुछ दिन पीड़ा हुई थी। वहाँ से धीरे-धीरे थोड़ा चलने पर बालू के ऊँचे ढूह के पीछे एक छोटा शिव-मन्दिर तथा एक दो मड़इयों का घर था। बीच में एक कुँआ भी था। स्थान बड़ा स्वच्छ था। एक गोसाईं साधु बाहर आये। संन्यासी ने उस कुँए के जल से स्नान करके शरीर को ठण्डा किया। गोसाईं ने कई प्रश्न किये – कहाँ से आ रहे हैं? कहाँ जा रहे हैं? आदि आदि, परन्तु कोई उत्तर न पाकर समझ गये कि 'मौन' है। संध्या के समय रोटला (बाजरे की रोटी) और छाछ दिया। छाछ बहुत खट्टा था। एक हरे मिर्च का अचार था। उसके साथ रोटला बड़ा स्वादिष्ट लगता है।

रात वहीं बिताने के बाद संन्यासी फिर चल पड़ा। करीब १२ बजे एक गाँव में पहुँचा। वहाँ भी शिव-मन्दिर के प्रांगण में एक गोसाईं सपरिवार रहते थे। इन्हें गुजरात में 'अतीत' कहते हैं। संन्यासी ने समझा कि ये लोग समाज के बाहर हैं, इसीलिये 'अतीत' कहलाते हैं। इनमें से कोई-कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते हैं, परन्तु अधिकांश विवाह करते हैं। गुजरात के अधिकांश शिव-मन्दिरों के ये ही लोग पुजारी हैं। इनमें से कुछ अपने प्रयास से जमीन का उपयोग करके खूब सम्पन्न भी हो जाते हैं। आजकल इन लोगों ने लिखना-पढ़ना सीख लिया है और मान-सम्मान भी पाने लगे हैं। उसी ने रोटला, छाछ तथा हरी मिर्च दिया था।

वहाँ से फिर चलकर संध्या के पूर्व हरिपुर पहुँच गया। यह दहेज बन्दर के पास है। गाँव से आधे मील दूर एक सुन्दर निर्जन स्थान में शिव-मन्दिर था। मन्दिर काफी प्राचीन था। शिवलिंग थोड़े नीचे स्थान में था। नर्मदा पास में ही थीं। ज्वार के समय पानी आ जाता था और बरसात के दिनों में तो शिवलिंग जल में ही डूबा रहता था। मन्दिर के पास ही तीन तरफ दीवाल, ऊपर एक छप्पर और बीच में एक धूनीयुक्त कमरा था। संन्यासी ने उसी में आसन जमाया। पास में ही कुँआ था। पानी बुरा नहीं, खारापन कम था। भिक्षा की व्यवस्था शंकरजी की कृपा पर निर्भर थी।

सुबह स्नान आदि करके बैठा था। दूर-दूर तक कोई आदमी नहीं दिख रहा था। रात धूनी के पास और हिरणों के साथ अच्छी बीती थी। अग्नि की झलक तथा प्रकाश देखकर उनका झुण्ड आ पहुँचा था। हो सकता है कि बाघ के भय से ही उन्होंने वहाँ आश्रय लिया हो। करीब दस बजे एक व्यक्ति गौओं को साथ लिये वहाँ चराने आया। मन्दिर की चाभी उसी के पास थी। वह अन्दर पूजा करने गया। पूजा के बाद आकर संन्यासी के पास बैठा। कुछ बातें भी की, परन्तु उत्तर न मिलने पर थोड़ा सोच में पड़ गया। थोड़ी कच्ची मूंगफलियाँ और कुछ खजूर निकालकर सामने रख दिया। शिवजी का भोग लगाकर लाया था। और वहीं बैठकर चिलम से तम्बाकू पीने लगा। संन्यासी ने वे कच्ची मूंगफलियाँ तथा खजूर खाये। इस प्रकार एक-एक कर तीन दिनों तक उस किसान द्वारा लाई गयी कच्ची मूंगफलियों तथा खजूर से काम चला। पेट में ऐठन होने लगी। वैसे आखिरी के कुछ दिन टिन का एक टुकड़ा मिल जाने से मूंगफलियाँ भूनकर खायी जा रही थीं। इसके फलस्वरूप आँव की बीमारी हो गयी।

जगह इतनी अच्छी थी कि छोड़ने की इच्छा नहीं हो रही थी। चौथे दिन बड़ौदा राज्य के एक अफसर आये, सम्भवत: तहसीलदार थे। साथ में गोसाईं पुजारी था – वे पूजा करेंगे। उन्होंने पुजारी से संन्यासी के विषय में पूछा, परन्तु वह तो आता ही नहीं था, उस किसान के द्वारा ही काम चला लेता था, इसलिये इस विषय में कुछ जानता नहीं था। उन्होंने किसान से पूछकर सारी जानकारी ली – संन्यासी गाँव में नहीं जाता और वह जो थोड़ी-सी मूंगफलियाँ तथा खजूर देता है, उसी को खाकर रहता है।

उन्होंने नाराज होकर पुजारी को खूब खरी-खोटी सुनाई और तत्काल खिचड़ी की सामग्री – मसाला, घी आदि और उसे पकाने के लिये एक लोटा भेजने को कहा। और उस भक्त किसान से कहा – रोज देखते रहना और खाली होते ही पुजारी के यहाँ से ले आना। बाद में स्निग्ध अन्न भी मिला। अब संन्यासी को खाने का कष्ट नहीं रहा। रोज घी के साथ धूनी के ऊपर खिचड़ी पकाकर खाने लगा। दो महीने का काष्ठ-मौन व्रत इसी प्रकार वहाँ पूर्ण हुआ।

जिस दिन संन्यासी ने मौन तोड़ा, उस दिन तो किसान भक्त आह्लाद से परिपूर्ण हो उठा – आनन्द से वह स्थिर नहीं रह पा रहा था। गाँव के लोगों को ज्ञात होने पर वे लोग भी दल-के-दल आने लगे।

दहेज बन्दर के मालिक छोटे दरबार आकर उपस्थित हुए। (जमींदारी के दो भाग हैं – एक छोटे दरबार का और दूसरा बड़े दरबार का।) वे अपने साथ ले जाने के लिये खूब जिद करने लगे। इधर गाँव के लोग भी हठ करने लगे कि उन लोगों के साथ गाँव में रहना होगा। निश्चित हुआ कि गाँव में तीन रात निवास करने के बाद दहेज-बन्दर जाना होगा। यह भी निश्चित हुआ कि नौका मिलने पर द्वारका जाने के लिये दहेज-बन्दर से घोघा-बन्दर की ओर जाना होगा।

ग्रामवासियों ने खूब सत्कार किया। खूब सत्संग भी हुआ। एक दिन उन लोगों ने स्वामीजी की बातें भी सुनीं। निर्दिष्ट दिन दहेज-बन्दर के छोटे राणा आकर संन्यासी को अपने यहाँ ले गये। ये लोग उदयपुर के राजा के वंश के हैं और वहीं से आये हैं। ५-६ दिन उनके घर रहना हुआ। इनकी तुलना में बड़े राणा की समृद्धि अधिक है। बिहार के एक व्यक्ति – सी. आइ. डी. ने संन्यासी से यही बताया और उन्हीं का अतिथि होने को कहा। परन्तु संन्यासी ने उनकी बात को स्वीकार नहीं किया। वे कई दिनों तक नित्य सत्संग में आया करते थे।

सहसा सुनने में आया कि एक विशेष नौका लोगों को लेकर घोघा जा रही है। राणा ने तत्काल उन लोगों से कह कर संन्यासी के जाने का प्रबन्ध कर दिया। एक दिन सुबह छह बजे नौका रवाना हो गयी। खूब जोर की हवा चल रही थी, अत: नौका के समुद्र में पहुँचने के बाद हर ५-६ मिनट के बाद पाल की स्थिति बदलने लगी। नौका क्रास की भाँति चलने लगी – एक बार इधर और एक बार उधर कूदते हुए; उसी प्रकार जैसा कि तूफानी घोड़ा कभी रास्ते के इस ओर, तो कभी उस ओर दौड़ता हुआ गाड़ीवान को परेशान कर डालता है। और यात्रियों के कष्ट की तो कोई सीमा ही नहीं थी। ज्योंही पाल को घुमाया जाता, त्योंही नाव एक ओर झुक जाती। फिर उसे डूबने से बचाने के लिये सबको ऊँचाई वाले छोर पर जाकर अपना भार डालते हुए लटकना पड़ता था। हर ५-६ मिनट के बाद ऐसा ही करना पड़ता। इसी प्रकार भयंकर तूफानी समुद्र के भीतर से होकर नौका शाम को छह बजे घोघा-बन्दर पहुँची। बारह घण्टों तक सभी के प्राण संकट में पड़े हुए थे। खाने की तो कोई बात ही नहीं, उस हालत में जल का स्पर्श करना तक असम्भव था। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस दौरान लघु शंका तक करने की जरूरत नहीं हुई। अस्तु। ❖ **(क्रमश:)** ❖

# हृदय परिवर्तन

*स्वामी सत्यरूपानन्द*

प्राचीन समय में किसी गहन वन में एक बहेलिया रहा करता था। व्याधकुल में उसका जन्म हुआ था। जन्म से ही वह क्रूर और हिंसक था। पशु पक्षी कीट पतंग सभी की वह नृशंसतापूर्वक हत्या कर दिया करता था। उसकी इस क्रूरता के कारण उसके सगे-सम्बधियों ने भी उसे त्याग दिया था। वह अपनी स्त्री के साथ वन में रहा करता था।

एक दिन वह आखेट की खोज में गहन वन में भटक रहा था कि दिन ढलने लगा पर उसे कोई शिकार नहीं मिल पाया। थोड़ी देर में आकाश काले-काले मेघों से घिर गया और वन में अंधकार छा गया। बिजली चमकने लगी। मेघ गर्जन करने लगे और मूसलाधार वर्षा होने लगी। वर्षा इतनी भयंकर थी मानों प्रलयवृष्टि हो। थोड़ी ही देर में सारा वनप्रान्त जलप्लावित हो गया। वर्षा की तीव्रता से कितने ही छोटे-छोटे पक्षी मरकर वृक्षों से गिर गये। बड़े-बड़े हिंसंकपशु वर्षा और शीत से व्याकुल होकर इधर-उधर भटकने लगे। व्याघ भी शीत और क्षुधा से पीड़ित हो व्याकुल हो गया।

कुछ देर पश्चात वर्षा रुक गई। आकाश साफ हो गया। किन्तु तब रात अधिक हो चुकी थी। व्याघ को अपने घर का मार्ग नहीं सूझ रहा था। घोर वर्षा के कारण रास्ते पानी में डूब गये थे। निराश होकर उसने वन में ही किसी वृक्ष की छाया में रात्रि काटने का निश्चय किया। वह एक घने वृक्ष की ओर बढ़ ही रहा था कि उसे जल में किसी वस्तु के गिरने की आवाज सुन पड़ी। उसने हाथों से टटोलकर देखा कि एक अर्धमृत पक्षी फड़फड़ा है उसने उसे पकड़कर अपने पिंजरे में बन्द कर लिया। हाय री हिंसा ! स्वंय इतने कष्ट में होने पर भी उसे उस पक्षी पर दया आयी, उसके हृदय में करुणा न जागी। हिंसा ने उसके हृदय को पत्थर बना दिया था।

समीप ही एक विशाल घना वृक्ष था। वृक्ष के नीचे की भूमि कुछ ऊँची थी अत: वहाँ पानी नहीं जमा हो पाया था। व्याघ ने वहीं विश्राम करने का निश्चय किया। उसने धनुष, बाण, तरकश और पिंजरा आदि वृक्ष के नीचे रख दिाय और स्वयं कुछ पत्ते बिछाकर एक शिलाखण्ड पर सिर रखकर सोने का उपक्रम करने लगा। किन्तु शीत और क्षुधा से पीड़ित होने के कारण उसे नींद न आई।

उसी वृक्ष की एक डाल पर कबूतर का एक घोंसला था। उसमें बैठा कबूतर बड़े ही करुण स्वर में विलाप कर रहा था। उसकी पत्नी आज प्रात:काल से चारा चुगने गई थी और वह और वह अभी तक लौट कर नहीं आई थी। अनिष्ट की आंशका से उसका हृदय फटा जा रहा था। आज की प्रलयंकारी वर्षा में उस पर कोई विपत्ति तो नहीं आ गई? वह कुशल से तो होगी? इन्हीं चिन्ताओं में उसे अपने विगत जीवन के मधुर क्षणों का स्मरण होने लगा और विलाप करता हुआ वह कहने लगा, 'अहो ! मेरी प्रिया मुझे कितना चाहती थी। मुझे भोजन कराये बिना वह स्वयं नहीं खाती थी। मेरी प्रसन्नता में वह कितनी प्रसन्न होती थी। मुझे उदास देखकर वह दुख के सागर में डूब जाती थी।''

बहेलिये के पिंजरे में बन्द वह चिड़िया इसी कबूतर की जीवन- सहचरी थी। अपने पति के मुँह से अपने प्रति इतने स्नेह युक्त वचन सुनकर कबूतरी का हृदय गद्‌गद् हो गया। तभी उसकी दृष्टि पास ही लेटे बहेलिये पर पड़ी। उसका हृदय करुणा से भर गया और वह सोचने लगी, 'अहो ! इस व्याघ की पत्नी भी मेरे पति की भाँति चिंतातुर और दुखी होगी। उसका मन भी अपने पति के अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो रहा होगा। वह कितनी दुखी होगी।' तभी उसे स्मरण हुआ कि वह व्याघ तो उसी वृक्ष के नीचे सोया है जहाँकि उसका घोंसला है। अत: व्याघ उसका अतिथि है। उसे अवश्य ही अपने अतिथि का सत्कार करना चाहिये, क्योंकि अतिथि-सत्कार गृहस्थ का प्रथम धर्म है।

किन्तु वह बेचारी तो पिंजरे में बन्द है। वह अपने अतिथि का स्वागत कैसे करे? इधर घर आये अतिथि का स्वागत करना न करना भी अधर्म है। उसने प्रेम पूर्वक करुण स्वर में अपने पति को पुकारा। कबूतर को अपनी प्राण प्रिया की आवाज सुनकर बड़ा आश्चर्य हुअ। 'प्रिये, तुम कहाँ हो' कहता हुआ वह तुरन्त पेड़ के नीचे उतर आया। नीचे अपनी पत्नी को पिंजरे में बन्द देखकर वह व्याकुल होकर रोने लगा। किन्तु कबूतरी ने उसे सान्त्वना दी और कहा, ''प्राणनाथ ! मुझे बन्दी बनानेवाला यह व्याघ आज अतिथि के रूप में हमारे घर आया है। अत: हमारा धर्म है कि हम अतिथिदेव की सेवा करें। गृहस्थ का यह सबसे बड़ा कर्तव्य है।'' अपनी पत्नी की धर्मपरायणता और कर्त्तव्य निष्ठा देखकर कबूतर प्रसन्न हुआ। पत्नी को आश्वस्थ कर वह शीघ्र ही व्याघ की सेवा के लिये सन्नद्ध हो गया।

व्याघ शीत और क्षुधा से पीड़ित वहाँ पड़ा-पड़ा आँसू बहा रहा था। कबूतर ने व्याघ से मनुष्यों की बोली में कहा, ''व्याघराज ! आप हमारे अतिथि हैं। कहियें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?''

उस गहन वन में मनुष्य की बोली सुनकर व्याघ को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उठकर चारों दृष्टि दौड़ाई, किन्तु उसे वहाँ कोई मनुष्य न दिखा। उसके सामने ही एक कबूतर बैठा था। उसने विनयपूर्वक पुन: निवेदन किया।

व्याघ ने कहा, भाई, मुझे बड़ी ठंड लग रही है किसी तरह शीत से मेरी रक्षा करो।' कबूतर के शीघ्र ही दूर वन से सूखे पत्ते ले आया और व्याघ के पास रख दिया। फिर वह ग्राम के लुहार की भट्ठी से आग ले आया। व्याघ ने उससे आग चलाई अपने अपने अंगों को सेंककर गरम करने लगा। कुछ स्वस्थ होने पर व्याघ ने कहा, ''पक्षीराज ! मुझे बड़ी भूख लगी है। मुझे कुछ भोजन दो।''

व्याघ की बात सुनकर कूबतर को बड़ा दुख हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा, ''में तो पक्षी हूँ और हम पक्षी कुछ संचय करते नहीं। मैं व्याघ को भोजन कहाँ से दूँ? यदि मैं उसे भोजन नहीं दे सका तो अतिथि धर्म से च्युत हो जाऊँगा, कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाऊँगा।'' कुछ देर गम्भीर मुद्रा में रहने के पश्चात उसने व्याघ से कहा, व्याघराज, आप अग्नि को और प्रज्वलित कीजिये, मैं आपके भोजन की व्यवस्था करूँगा।'' व्याध ने अग्नि को और प्रज्वलित किया। प्रज्वलित अग्नि को देखकर कबूतर ने अग्निदेव को प्रणाम किया। उसने तीर बाा से अग्नि की परिक्रमा की ओर व्याघ से कहा, ''हे अतिथिदेव ! आपकी क्षुधा शान्त करने के लिये मेरे पास इस शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अत: आप इसी से अपनी क्षुधा शान्त करें।''

इतना कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह कबूतर अग्नि में कूद पड़ा। यह दृश्य देखकर और कपोत की बात सुनकर व्याघ स्तब्ध रह गया। उसका क्रूर हृदय विचलित हो उठा। वह सोचने लगा, 'अहो ! एक पक्षी होकर भी उसने कितना महान् त्याग किया है ! मेरी क्षुधा शान्त करने के लिये उसने अपने आप का बलिदान कर दिया ! और एक मैं हूँ — अधम और नीच, अपनी क्षुधा शान्त करने के लिये वर्षा से अनेक प्राणियों की हत्या हत्या करता आ रहा हूँ ! में कितना पापी हूँ ! इस क्षणभंगुर जीवन की रक्षा के लिये मैं यह कैसा घोर दुष्कर्म कर रहा हूँ।'

यह सोचकर उसका हृदय व्याकुल हो उठा। तभी उसकी दृष्टि अपने उस पिंजरे पर पड़ी, जिसमें उसने कबूतरी को बन्द कर रखा था। आत्मग्लानि से उसका पशुत्व मर गया और मानवता जाग उठी। उसने तुरन्त ही उस पक्षी को पिंजरे से मुक्त कर दिया। मुक्त होते ही कबूतरी ने भी अग्नि की परिक्रमा की और व्याघ से कहा, ''व्याधराज, आपकी क्षुधा शान्त करने के लिये जिस महाभाग कपोत ने अपना बलिदान कर दिया वे मेरे पतिदेव थे। आप हमारे घर पधारे हैं, अत: आप मेरे भी अतिथि हैं। अत: मैं भी अपने पति की भाँति अतिथि सेवा के महान् धर्म का पालन करना चाहती हूँ। आप मेरे माँस से भी अपनी क्षुधा शान्त करने की कृपा करें। इतना कहकर वह कबूतरी भी उस प्रज्वलित अग्नि में कूद गयी।

यह हृदयविदारक दृश्य देखकर व्याघ का क्रूर हृदय विदीर्ण हो गया। अतिथि के रूप में आये शत्रु के लिये भी कबूतरी द्वारा-आत्म-बलिदान करना देखकर व्याध का हृदय दुख और पश्चाताप की अग्नि से जलने लगा। अपने क्रूर कर्मों के कारण उसे अपने प्रति भयंकर घृणा होने लगी। उसने अपने सभी अस्त्र-शस्त्र वहीं फेंक दिये और अपने अपराधों का प्रायश्चित करने के लिये वह गहन वन की ओर बढ़ चला। उसने अन्न-जल त्याग दिया और व्याकुल अंत:करण से अपने अपने अपराधों के मोचन के लिये वह प्रभु से प्रार्थना करने लगा।

एक दिन भयंकर आँधी आई। आँधी के वेग से वन के सूखे वृक्षों का आपस में घर्षण हुआ और उनमें आग लग गई। देखते-देखते आग भयानक बड़वानल में परिवर्तित हो गई। वन के जीवजन्तु प्राण-रक्षार्थ इधर-उधर भागने लगे किन्तु व्याध को अपने शरीर की सुधि न थी। उसका मन प्रभु के चरणों में लीन हो चुका था। आग बढ़ती गई और उसकी लपलपाती शत-शत जिह्वाओं ने व्याध के शरीर को अपने में समेट कर भस्म कर दिया। शरीर तो मर गया किन्तु व्याध अमर हो गया। उसे भी वही सद्‌गति मिली जो कपोत दम्पति को परार्थ आत्म-बलिदान के कारण प्राप्त हुई थी।

प्राचीन महाभारत की यह कथा हमें नवीन सन्देश दे रही है। मनुष्य का स्वभाव है भूलें करना, अपराध कर लेना, किन्तु जब कभी-भी हमारी चेतना जागे और हमें अपनी भूल का ज्ञान हो जाये, तभी से हमें अपनी गल्तियों पर पश्चात्ताप करना चाहिये और व्याकुल होकर ईश्वर से प्रार्थना करते हुये अपने जीवन के कलुष को धोने का प्रयत्न करना चाहिये। पश्चात्ताप और प्रायश्चित के सहारे एक पापी भी अपने को सद्‌गति का अधिकारी बना लेता है।

❑❑❑

# खेतड़ी की ओर – दिल्ली तथा अलवर

***स्वामी विदेहात्मानन्द***

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसे सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

२४ नवम्बर १८९७ को स्वामीजी एक पत्र में लिखते हैं – "मैं देहरादून जिस कार्य से आया था, वह भी निष्फल हुआ। ... प्रभु की जो इच्छा ! ... शुक्रवार को यहाँ से रवाना होना चाहता हूँ – सहारनपुर होकर एकदम राजपुताना जाने का विचार है।" शुद्धानन्दजी लिखते हैं – "सहारनपुर से दिल्ली होते हुए राजपुताना के अलवर तथा जयपुर में कुछ दिन रहने के बाद वहाँ से हम लोग स्वामीजी के शिष्य खेतड़ी-नरेश के राज्य में गये। इन सब स्थानों में स्वामीजी हम लोगों को निरामिष भोजन के पक्ष में खूब उत्साहित करते थे। बीच-बीच में कहते, 'बारह वर्ष निरामिष भोजन कर पाने से अपनी साधना में सिद्धि मिल जाती है।' दिल्ली में स्वामीजी अपने पूर्व-परिचित धनी व्यक्ति के घर न जाकर एक सामान्य अवस्था के गृहस्थ के घर में ठहरे थे। अलवर में भी वैसा ही हुआ। इन सब स्थानों में स्वामीजी हम लोगों को घुड़सवारी आदि की शिक्षा देने में विशेष उत्साह दिखाते थे। कुल मिलाकर स्वामीजी ऐसा प्रयास करते, ताकि उनके भक्त या शिष्यगण आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक – सभी प्रकार की शिक्षा पाकर एक सर्वांग-सुन्दर मनुष्य हो सकें।"[१]

### शास्त्र-चर्चा का तारतम्य

वे अन्यत्र लिखते हैं – "लाहौर से हम लोग **देहरादून**, **दिल्ली**, **अलवर** और **जयपुर** गये। सभी जगह यह शास्त्र-पाठ थोड़ा-थोड़ा चलता रहा। जयपुर से मरुभूमि में होकर खेतड़ी जाने के लिये ९० मील का रास्ता पार करने में चार दिन लगे थे। उस समय हर चट्टी पर पहुँचकर स्नानादि नित्य क्रिया से छुट्टी पाते ही पाठ आरम्भ होता और सायंकाल तक चलता रहता। हम लोगों के साथ में संस्कृत भाषा और न्याय शास्त्र के विशेष विद्वान् **अच्युतानन्द सरस्वती** थे। स्वामीजी उन्हीं को पढ़ाने के लिये कहते और सब लोग पढ़ाने के समय उपस्थित रहते थे। मैंने देखा है, स्वामी अच्युतानन्द को श्रीभाष्य के जटिल स्थानों का अर्थ करने में जब पसीना आने लगता, तब स्वामीजी दो चार शब्दों में ही उसकी मीमांसा कर अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय देते थे। वेदान्त के शांकर भाष्य को सभी पढ़ते और पढ़ाते हैं। किन्तु भक्तिवादी लोग भी अपने-अपने मत को स्थापित करने के लिये वेदान्त को प्रमाण रूप से अवलम्बन करते हैं, अपने शिष्यों की दृष्टि इसी ओर आकृष्ट करने के लिये मानो हम लोगों को श्रीभाष्य पढ़ाने के लिये स्वामीजी का विशेष आग्रह था।"[२]

"एक अन्य दिन की बात याद आती है। ... उस दिन वे दोनों (स्वामीजी तथा सदानन्द) और हममें से कई लोग रेल के एक डब्बे में बैठकर पश्चिम (भारत) में कहीं जा रहे थे। १८९७ ई. का अन्त था। उस समय स्वामीजी को पाश्चात्य देश से लौट प्राय: एक साल हुआ था एवं भारत में श्रीगुरुदेव के उपदेश का प्रचार करने के लिये वह प्राणपण से परिश्रम कर रहे थे। प्रचार-कार्य में खूब विद्वान् लोगों की सहायता की आवश्यकता अनुभव कर और गुरुभाइयों तथा शिष्यों में अपनी इच्छानुसार अगाध विद्या और वक्तृता का प्रकाश न देख कर समय-समय पर विशेष उत्तेजित हो जाते थे। इसी प्रकार के एक भाव के आवेग में स्वामीजी गुप्त महाराज को लक्ष्यकर तिरस्कार की भाषा में बोले, 'तुमने तो लिखना-पढ़ना कुछ नहीं सीखा, तुमसे सिवाय कुलीगिरी के और क्या होगा?' गुप्त महाराज ने हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज, आपने ही तो मुझे लिखना-पढ़ना बन्द करने को कहा था।' स्वामीजी बोले, 'मैंने तुम्हें साधन-भजन करने के लिये तो कहा था, वही तुमने कितना किया है, कहो तो सही?' "[३]

### दिल्ली में कुछ दिन

देहरादून से स्वामीजी राजपुताना की ओर अग्रसर हुए। उनका गन्तव्य स्थान खेतड़ी था। राजा अजीत सिंह उस

१. स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला), कोलकाता, सं. १९९३, पृ. २१-२२; Prabuddha Bharata, Jan. 1931, p. 17 (So-Called Contradictions in Swami Vivekananda's Teachings)

२. समन्वय मासिक, कोलकाता, फरवरी १९२८, पृ. ८३-८४

३. वही, पृ. ९१-९२

समय तक इंग्लैंड के राजदरबार से लौट आए थे। मुम्बई में उनके जहाज से उतरने पर स्वामीजी के निर्देशानुसार रामकृष्ण मिशन की ओर से उनकी संवर्धना की गयी। उस समय राजा अपने गुरुदेव का दर्शन करने को आकुल थे और आचार्य भी अपने सुयोग्य शिष्य को दर्शन देने के लिए उत्सुक थे। अत: वे सहारनपुर, दिल्ली, अलवर तथा जयपुर होते हुए खेतड़ी की ओर चल पड़े। दिल्ली में उन्होंने मात्र चार-पाँच दिन ही निवास किया।

यहाँ पर वे किसी धनाढ्य व्यक्ति के घर में न ठहरकर नटकृष्ण नामक अपने एक निर्धन शिष्य के घर में रहे। अमेरिका जाने के काफी पहले हाथरस स्टेशन पर स्वामीजी की इन सज्जन के साथ बातचीत हुई थी और इसके फलस्वरूप उनके जीवन में काफी बड़ा परिवर्तन आया था। ये सज्जन अत्यन्त सरल-स्वभाव तथा स्पष्टवक्ता थे और स्वामीजी को गुरुजी कहकर सम्बोधित करते थे।... एक दिन उन्होंने कहा, "गुरुजी, लगभग पाँच-छह महीनों से मैं सन्ध्या-वन्दन कर रहा हूँ, परन्तु कुछ पा नहीं रहा हूँ।" स्वामीजी बोले, "मातृभाषा में भगवान को पुकारो।" यह कहकर उन्होंने गायत्री का अर्थ भलीभाँति समझा दिया।

दिल्ली महाविद्यालय के एक प्राध्यापक स्वामीजी के पास बारम्बार आया करते थे। इनके उत्साह तथा उद्योग से कुछ स्थानीय सज्जन एक छोटे से स्थान पर एकत्र हुए और स्वामीजी के समक्ष अपने कुछ प्रश्न रखे। स्वामीजी ने हर प्रश्न की सुन्दर मीमांसा कर दी और इस पर सभी उपस्थित लोग खूब तृप्त हुए थे। स्वामीजी पहले भी दिल्ली देख चुके थे, तथापि वे पुन: सबको साथ लेकर लाल किला, कुतुब मीनार तथा अन्य प्राचीन स्थापत्य आदि देख आए। इस परिदर्शन के समय वे अपने संगियों को इतिहास के आधार पर उन स्थानों से जुड़ी घटनाओं का मनोहारी कथाओं के रूप में विवरण देते गए। संगियों में से एक ने बाद में कहा था, "वे अतीत काल को जीवन्त रूप में हमारे सामने उपस्थित कर देते थे। सच कहें तो हम लोग अतीत में डूबकर वर्तमान को भूल जाते और प्राचीन काल के दिवंगत सम्राटों तथा शक्तिशाली राजाओं के सान्निध्य में निवास करते।" यहाँ तक सेवियर-दम्पति भी उनके साथ थे।[४]

### अलवर में स्नेह-मिलन

दिल्ली से स्वामीजी १ दिसम्बर की ट्रेन से अलवर की ओर चले। चारों ओर फैले बालू के ढूहों के बीच से होकर गुजरते हुए अन्त में ट्रेन जब रेवाड़ी स्टेशन पर आकर रुकी तो पता चला कि खेतड़ी नरेश के लोग स्वामीजी को ले जाने के लिए पालकी, ऊँट, घोड़े आदि विविध प्रकार के वाहनों सहित वहाँ उपस्थित हैं। खेतड़ी उन दिनों जयपुर के अधीन एक सामन्ती राज्य था। जयपुर से मरुभूमि के रास्ते उसकी दूरी लगभग नब्बे मील थी, परन्तु रेवाड़ी से यह दूरी लगभग बीस मील कम थी। इसीलिए राजा अजीत सिंह ने इस छोटे मार्ग को ही स्वामीजी की यात्रा के लिए उत्तम समझा था। इधर अलवर में स्वामीजी के अनेक भक्त उनके लिए उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे और वहाँ आने के लिए पहले से ही बारम्बार अनुरोध कर रहे थे। इस हार्दिक अनुरोध को टालकर सीधे खेतड़ी चले जाना भला उनके लिए कैसे सम्भव था! अतः वे रेवाड़ी में न उतरकर उसी ट्रेन से अलवर गए। उस स्टेशन पर पहुँचकर उन्होंने देखा कि उनके अनेक परिचित बन्धु-बान्धव उनका स्वागत तथा उनसे वार्तालाप करने को वहाँ एकत्र हैं – चारों ओर लोगों की भीड़ दीख रही थी और नगर के गणमान्य लोग उनके समीप आकर उनके साथ दो-चार बातें करने को उत्सुक थे। उसी समय एक बड़ी अद्भुत घटना हुई, जिससे स्वामीजी के व्यक्तित्व के एक खास पहलू का परिचय मिलता है। उन्होंने देखा कि उनका एक पुराना अनुरागी भक्त दूर – दीन-हीन वेश में खड़ा है। स्वामीजी का दर्शन करके उसका मुखमण्डल आनन्द से खिल उठा था और उसका हावभाव देखकर लगता था कि वह भी स्वामीजी का सान्निध्य पाने को आकांक्षी है, परन्तु सम्मानित सज्जनों को ठेलकर आगे बढ़ने का साहस वह नहीं जुटा पा रहा था। स्थान-काल, रीति-रिवाज, लोक-लज्जा आदि की परवाह न कर स्वामीजी अविलम्ब उच्च स्वर में पुकार उठे, "रामसनेही, रामसनेही !" स्वामीजी ने ठीक पहचाना था, वे रामसनेही ही थे। बीच से भीड़ को हटाकर उन्होंने रामसनेही को निकट बुलाया और पहले के समान ही उनके साथ बातें करने लगे। ...

अलवर में भी ऐसा ही हुआ – यहाँ भी पुराने मित्रों एवं भक्तों के साथ आनन्दपूर्वक उनके तीन-चार दिन बीत गए। राज्य के महाराजा उस समय नगर में नहीं थे; तथापि स्वामीजी के स्वागत-सत्कार तथा सेवा-यत्न में कोई कमी नहीं आयी। भक्तगण तो थे ही, इसके अतिरिक्त राज्य के मुख्य-मुख्य कर्मचारियों ने हर प्रकार की सुव्यवस्था का ध्यान रखा। महाराजा का एक भवन उनके तथा उनके संगियों के निवास हेतु छोड़ दिया गया। वहाँ प्रतिदिन काफी लोगों का आगमन हुआ करता था। स्वामीजी उनके बीच बैठकर पहले के समान ही हल्की-फुल्की बातें करते, उपदेश देते, पाश्चात्य देशों के अपने अनुभव सुनाते तथा भारतीय कार्य के बारे में अपनी योजनाएँ समझाते। आगन्तुक लोग देखते कि जागतिक सम्मान पाकर भी स्वामीजी का मन विकृत नहीं हुआ है, पाश्चात्य ऐश्वर्य उनकी देशप्रीति को म्लान नहीं कर सका है और अगणित नये मित्र मिल जाने पर भी उनकी पुरानी स्नेह-

४. युगनायक विवेकानन्द, सं. २००५, खण्ड ३, पृ. ५४-५

प्रीति मिटी नहीं है। उनके वार्तालाप में सरलता, प्रेम, उत्साह तथा प्रेरणा का दुर्लभ समावेश रहता था। उनके वहाँ निवास के योग से दो-एक व्याख्यान भी हुए थे।[५]

पिछली बार अलवरवासियों के हृदय में स्वामीजी जो धर्मोत्साह प्रज्वलित कर गए थे, वह अब भी पूरी मात्रा में विद्यमान होने के कारण अनेक लोग उन्हें अपने घर ले जाने को आकुल थे, अत: उन्हें प्राप्त होनेवाले निमंत्रणों की संख्या भी काफी थी। स्वामीजी के लिए इस अल्प अवधि के दौरान सभी को सन्तुष्ट कर पाना असम्भव था। परन्तु एक जन का आमंत्रण उन्होंने परमप्रीति के साथ स्वीकार किया था और वह था एक वृद्धा का। पहले भी एक बार वे उसके यहाँ भिक्षा ग्रहण कर चुके थे; इस बार उन्होंने उसे कहला भेजा कि वे उसकी मोटी-मोटी रोटियाँ खाने को बड़े उत्सुक हैं। सुनकर वृद्धा का चित्त आनन्द से नाच उठा और उसकी आँखें भर आयीं। यथासमय सभी अतिथियों को भोजन परोसते हुए उसने स्वामीजी से कहा, "बेटा, मेरी तो इच्छा होती है कि तुम लोगों को अच्छी-अच्छी चीजें खिलाऊँ, परन्तु मैं गरीब हूँ। अच्छी चीजें कहाँ से लाऊँ, बोलो?" स्वामीजी ने परम सन्तोष के साथ वृद्धा द्वारा परोसी गयी चीजों को ग्रहण करते हुए अपने शिष्यों से कहा, "देखते हो न – बूढ़ी माँ का कितना स्नेह है और उसके हाथों बनी हुई ये रोटियाँ कितनी सात्त्विक हैं!" वृद्धा को निर्धनता से अत्यन्त पीड़ित देखकर और उसकी पहले की स्नेह-ममता की बात सोचकर विदा लेते समय स्वामीजी वृद्धा को पता लगे बिना ही गृहस्वामी के हाथ में एक सौ रुपये का नोट देते गए – उस व्यक्ति के ना-नुच को स्वीकार नहीं किया।

## स्वामी अद्‌भुतानन्द की स्मृतिकथा

स्वामी अद्‌भुतानन्द जी ने इस यात्रा के प्रसंग में बताया था – "अलवर स्टेशन पर उतरने के बाद स्वामीजी ने एक व्यक्ति को दूर खड़े देखा और किसी को कुछ कहे बिना ही उसकी ओर चले गये। इधर बड़े-बड़े लोग उन्हें स्टेशन पर लेने आये हुए थे। स्वामीजी उन लोगों के साथ गये, परन्तु उन लोगों के यहाँ ठहरे नहीं। एक दिन एक बड़े आदमी के घर से कोई हम सबको निमंत्रण देने आया और उसी दिन एक बुढ़िया भी आयी थी। स्वामीजी ने बुढ़िया से कहा, 'आज हम लोग तेरे घर खाएँगे। उसी बार की तरह मोटी-मोटी रोटियाँ बनाना।' बड़े आदमी के घर से जो व्यक्ति निमंत्रण देने आया था, उसे कह दिया कि किसी दूसरे दिन आएँगे। देखो तो, विवेकानन्द भाई का कैसा प्रेम है! इस बुढ़िया ने ही पिछली बार (परिव्राजक अवस्था में भ्रमण करते समय) स्वामीजी को आश्रय दिया था, वहीं से समाचार पाकर अलवर के राजा ने उन्हें राजभवन में बुला लिया था। इसी कारण इस बार भी बुढ़िया को ही पहले मान दिया। पहले बुढ़िया की इच्छा पूर्ण की, तत्पश्चात् वहाँ के बड़े लोगों का स्नेह-यत्न स्वीकार किया।[६]

## उपरोक्त घटना का एक अन्य विवरण

वृद्धा के यहाँ स्वामीजी के भिक्षार्थ-गमन का एक अन्य रोचक वर्णन भी प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है – विख्यात् होने के बाद स्वामीजी अलवर गये थे। उन्हें राज-प्रासाद में ठहराया गया था और तदनुरूप ही उनका स्वागत सत्कार भी हुआ था। एक दिन वे अपनी टोली के साथ टहलने निकले, पर थोड़ी दूर जाने के बाद ही अन्तर्धान हो गये। डालों-पत्तियों से ढँकी हुई वृद्धा की झोपड़ी देखकर वे उसी में प्रविष्ट हो गये थे। राज-कर्मचारी जब उन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे, उन्होंने हाथ के इशारे से उन्हें चुपचाप चले जाने को कहा। वृद्धा उस समय चूल्हा जलाकर आटा सान रही थी। स्वामीजी को देखकर उसके आनन्द की सीमा न रही। बहुत दिनों के बाद उसने अपने 'लाला' को फिर देखा था। वृद्धा बहुत-सी बातें कहती जा रही थी, परन्तु लाला को वह सब सुनने में मन नहीं लग रहा था, उसे तो बड़े जोर की भूख लगी हुई थी। वृद्धा ने देखा कि उसके लाला के स्वभाव में जरा भी बदलाव नहीं आया है, हमेशा खाने को माँगता रहता है। अत: वृद्धा आग में टिक्कड़ पकाकर लाला के पत्तल में देने लगी और लाला को भी वह खाने में देरी नहीं लगी। इसके बाद दोनों के बीच बातें शुरू हुईं –

वृद्धा – अरे लाला, एक बात सुनी है क्या!

लाला – क्या है माई?

वृद्धा – सुन – एक बहुत बड़ा साधु आया है। वह राजा के महल में रहता है। उसके साथ अनेक लोग हैं। बहुत-से लोग उसे देखने जा रहे हैं। तू भी उसे देखने जायेगा क्या? ... अरे, नहीं नहीं, तुझे उसके लिये छटपटाने की जरूरत नहीं है। तेरी भूख अभी मिटी नहीं है, एक टिक्कड़ और देती हूँ, तू खा ले। उसके बाद चाहे तो साधु को देखने जाना। (थोड़ी चिन्तित होकर) ऊँ हूँ, नहीं ...।

लाला – क्या हुआ माई, नहीं क्यों?

वृद्धा – तू तो जायेगा, लेकिन वह साधु बड़ा आदमी है, यदि तुझे वहाँ न घुसने दे!

लाला – अच्छा माई, मान लो मैं ही वह साधु होऊँ!

वृद्धा (खिलखिला कर हँसते हुए) – क्या कहता है लाला, तू ही वह साधु है! तेरा मजाक करने का स्वभाव अभी गया नहीं। तू मेरा लाला है। तू गरीब है, मैं भी गरीब हूँ। गरीब-दुखी को बड़ी-बड़ी बातें नहीं करनी चाहिये। ले,

५. युगनायक विवेकानन्द, सं. २००५, खण्ड ३, पृ. ५५-५७

६. अद्‌भुत सन्त : अद्‌भुतानन्द, नागपुर, प्रथम सं., पृ. २०७

और दो टिक्कड़ तैयार हो गये हैं, अच्छी तरह खा ले।[७]

## खेतड़ी की ओर

८ दिसम्बर को एक पत्र द्वारा उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द को सूचित किया था, "कल हम लोग खेतड़ी के लिए रवाना होंगे।... खेतड़ी हो जाने पर सभी को मठ भेजने का विचार है। जो कार्य इनके द्वारा होने की मैंने आशा की थी, उसका कुछ भी नहीं हुआ। अर्थात् मेरे साथ रहने से कोई भी व्यक्ति कुछ कार्य नहीं कर सकेगा – यह निश्चित है। स्वतंत्र रूप से भ्रमण किये बिना इनके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् मेरे साथ रहने से इन्हें भला कौन पूछेगा – यह समय की बरबादी मात्र है। इसीलिए इन लोगों को मठ भेज रहा हूँ।"... उनका तृतीय प्रयास था – देशी तथा विदेशी मित्रों से धन संग्रह करके कलकत्ते के मठ को स्थायित्व प्रदान करना। यह तीसरा प्रयास एक अन्य प्रकार से किंचित् सफल हुआ था; इसी बीच विदेश से थोड़ा धन आ गया था और उपयुक्त जमीन ढूँढ़ने का प्रयास चल रहा था।

इसके बाद उन्होंने अलवर से जयपुर की यात्रा की। वहाँ भी बहुत-से स्थानीय सम्भ्रान्त लोग एकत्र होने लगे। स्वामीजी खेतड़ी-राजा के बँगले में रहे। शिष्यों को सम्बोधित करके स्वामीजी कहने लगे, 'एक दिन सामान्य फकीर के वेश में इसी स्थान (जयपुर) में आया था। तब राजा का रसोइया दिन के अन्त में (शाम को) खूब नाक-भौंह सिकोड़ते हुए थोड़ा-सा भोजन दे जाता था और अब पलंग की गद्दी पर सोने की व्यवस्था हो रही है, अब दिन-पर-दिन कितने लोग सेवा के लिए हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं। यह बात अतीव सत्य है – **अवस्था पूज्यते राजन् न शरीरं शरीरिणाम्**।[८]

यहाँ भी अन्य स्थानों के समान ही नगरवासी उनसे मिलने को आया करते थे। उन लोगों के साथ वार्तालाप करने में स्वामीजी का काफी समय बीत जाता और जब भी उन्हें फुरसत मिलती, वे अपने संगियों के साथ शास्त्रचर्चा में डूब जाते। वस्तुत: इस भ्रमण के दौरान उनके मन में तीन विचार सर्वदा जाग्रत रहते थे – प्रथमत: संगियों को उपयुक्त शिक्षा देना और द्वितीयत: यथासम्भव उन्हें विभिन्न कार्यों अथवा आश्रमों की स्थापना में लगाना।[९]

जयपुर से ९ दिसम्बर को खेतड़ी की यात्रा आरम्भ हुई। सुदीर्घ ९० मील का रेगिस्तानी मार्ग था, प्राकृतिक दृश्यावली का नाम भी न था, था केवल एक ही प्रकार के बालू और पथ का उत्थान-पतन तथा सरल या वक्र गमन। इसके अतिरिक्त मार्ग की थकान तो थी ही। कोई बैलगाड़ी पर, कोई घोड़े की पीठ पर, तो कोई ऊँट की पीठ पर चल रहा था। मार्ग चलते कितने ही प्रकार की चर्चाएँ छिड़ीं और कितनी ही आनन्ददायक बातें हुईं। ज्योंही पड़ाव में पहुँचना होता है, त्योंही वेदान्त का अध्यापन आरम्भ हो जाता है। स्वामीजी ने बताया था कि उन्हीं दिनों उन्होंने एक पड़ाव में एक रात को एक भूत देखा था। ❖ (क्रमशः) ❖

७. स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला), खण्ड ७, पृ. ६२८; श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, भाग २, पृ. १७४-७५; A Comprihensive Biography, Vol 1, p. 304

८. 'भारते विवेकानन्द' (बँगला), पृ. ४२१-२३

९. युगनायक विवेकानन्द, सं. २००५, खण्ड ३, पृ. ५७-५८
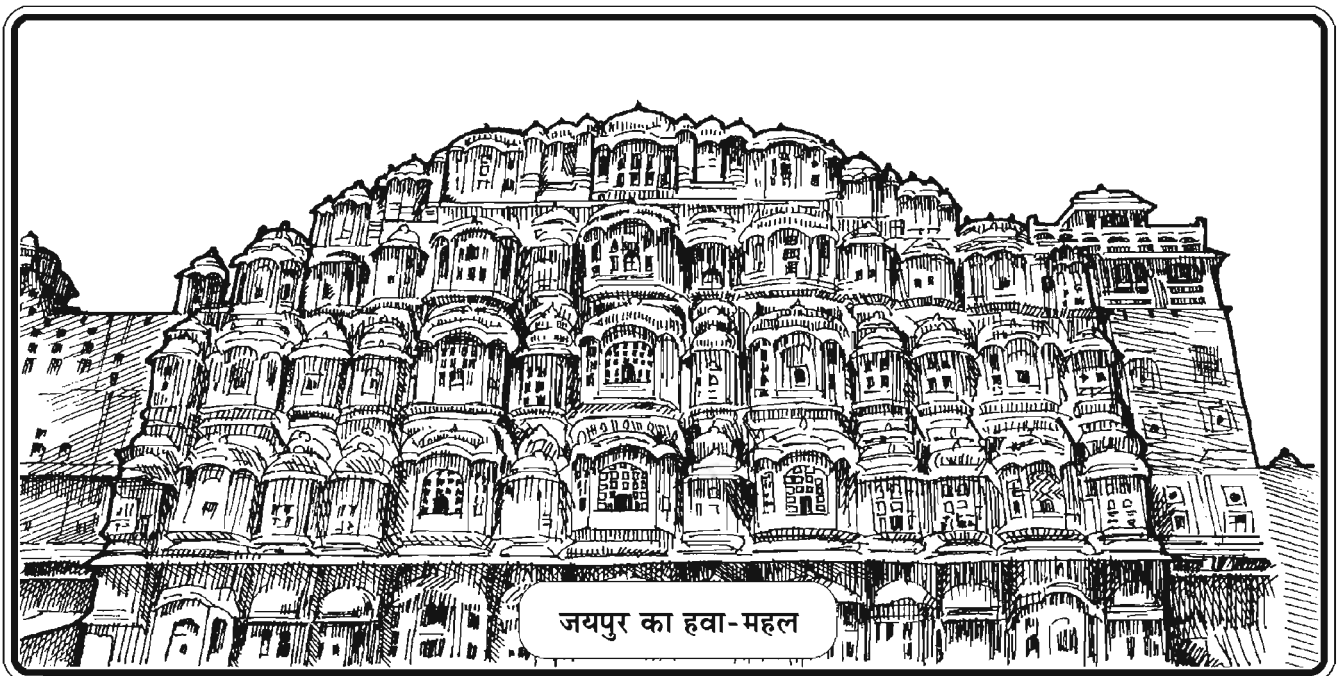
जयपुर का हवा-महल

# बुआ की बातें

*शान्तिराम दास*

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

जयरामबाटी के समीप के गाँव हलदी में मेरा घर था। हम लोग जाति से कहार हैं। मेरे पिता माँ को 'दीदी' कहते थे, इसीलिये हम लोग भी उन्हें 'बुआ' कहते थे। मेरे पिता योगीन्द्र दास बुआ के पालकी के कहारों के सरदार थे।[१] मेरे पिता की अपनी पालकी थी, जिसमें आठ कहार लगते थे। मेरी माता का नाम लक्ष्मी था। माँ बुआ के घर काम करती थी। घर-द्वार बुहारती, बर्तन माँजती, कपड़े धोती। बुआ माँ को 'माँझी-बहू' कहकर बुलाती, कभी 'लक्ष्मी-बहू' कहती। बुआ मेरे पिता को 'योगीन' कहती और महाराज लोग 'योगे' कहते। जब कभी बुआ जयरामबाटी से कोआलपाड़ा या कोलकाता के मार्ग में विष्णुपुर जातीं, तो मेरे पिता की पालकी में जातीं। पिता बड़े साहसी थे। लोग उन्हें खूब सम्मान देते। लेकिन वे बुआ से बहुत डरते थे। बुआ यदि एक बार भी पिता को बुलवाती, तो वे घबराकर बुआ के घर पर हाजिर होकर कहते, "दीदी, आपने मुझे बुलाया? पालकी ढोने के अलावा मेरे पिता नाव खेते और नदी में मछली भी पकड़ते।

हम छह भाई-बहन थे – मुझसे बड़ी दो बहनें और मुझसे छोटा एक भाई तथा दो बहनें। प्रारम्भ में लगातार दो पुत्रियों के जन्म से मेरे माता-पिता बहुत दुखी थे। गाँव के लोग, सगे-सम्बन्धी लड़का न होने के कारण मेरी माँ को खूब खरी-खोटी सुनाते। मेरे पिता भी इसी बात को लेकर माँ से लड़ते और शराब पीकर कभी-कभी मारते भी थे। एक दिन रात में शराब पीकर पिता ने माँ को खूब पीटा। अगले दिन सुबह जब माँ बुआ के घर पर काम करने गयी, तो उसने रोते-रोते बुआ को सारी बातें बतायी। सुनकर बुआ ने तुरन्त पिता को बुला भेजा। पिता डरते-डरते बुआ के सामने आकर खड़े हो गये। बुआ ने अत्यन्त क्षुब्ध तथा क्रुद्ध कण्ठ के साथ पिता से कहा, "योगीन इस प्रकार बहू को क्यों मारता है?" फीकी हँसी के साथ पिता बोले, "उसने तुम्हारे पास मेरे खिलाफ नालिश की है! तुम्हीं बताओ दीदी मैं क्या करूँ, वंश नहीं चलेगा – इसी दु:ख से मैंने उसे मारा है।" बुआ ने दृढ़तापूर्वक कहा, "मैं कहे देती हूँ फिर कभी बहू पर हाथ मत उठाना। लड़का नहीं हुआ, इसलिये यदि तुम्हें दु:ख होता है, तो उसे भी दु:ख होता होगा। वह बेचारी क्या करेगी?" पिता और क्या कहते, सिर नीचा करके चुपचाप खड़े रहे। सहसा बुआ ने कहा, "जाओ, मैं कहती हूँ, ठाकुर की कृपा से इस बार तुम्हें लड़का होगा। पर बहू को अब कभी मत मारना।"

इसके बाद मेरा जन्म हुआ। पिता आनन्द से नाच उठे और दौड़ते हुए मेरे जन्म की खबर सुनाने बुआ के घर गये। बुआ भी खुश होकर हँसती हुई बोलीं, "अब शान्ति मिली न! लगातार दो बच्चियाँ होने से तुमने अपना सिर खूब गरम कर लिया था।" पिता ने सोचा – बुआ ने मेरा नाम 'शान्ति' रखा है। घर जाकर बोले, "दीदी ने लड़के का नाम शान्ति रखा है।" इसीलिये मेरा नाम हुआ शान्ति – पूरा नाम शान्तिराम। मेरे माता-पिता कहते कि बुआ के वरदान के कारण ही वे लड़के का मुँह देख सके। इसी प्रसंग में एक घटना बताता हूँ। मैं उस समय अपने माँ के गर्भ में था। एक दिन मेरी माँ बुआ के नये मकान से लगे पुण्यपुकुर में मछलियाँ पकड़ रही थी। बुआ के शिष्य बाँकुड़ा के विभूति बाबू उस समय जयरामबाटी में थे। मेरी माँ को वे पहचानते थे, क्योंकि विभूति बाबू प्राय: बुआ के घर पर आते-जाते थे। मेरी माँ को तालाब में छोटा जाल डालकर मछली पकड़ते देखकर विभूति बाबू ने बुआ से कहा, "माँ, लक्ष्मी गर्भवती है। वह इस प्रकार तालाब में मछली पकड़ती है, उसके गर्भ के बच्चे को कोई क्षति तो नहीं पहुँचेगी।" बुआ बोली, "नहीं बेटा। उसे वरदान प्राप्त है।"

मेरे जन्म के दो तीन महीने बाद बुआ ने एक दिन मेरे पिता से कहा, "योगीन, अन्नप्राशन के दिन अपने लड़के को मेरे पास लाना। मैं तेरे लड़के को प्रसाद खिला दूँगी।" पिता जी बताते थे कि अन्न-प्राशन के दिन सुबह मेरे माता-पिता

१. स्वामी ईशानानन्द के 'मातृ-सान्निध्ये' ग्रंथ में हलदी गाँव के पालकी-वाहकों के सरदार 'योगे दुले' का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि योगे दुले माँ का 'खूब अनुगत' था। जयरामबाटी से अन्तिम बार कोलकाता जाते समय माँ इसी योगे दुले की पालकी में जयरामबाटी से विष्णुपुर आयी थीं। (५म सं., १९८९, पृ.१७४-७६)। यही योगे दुले शान्तिराम दास के पिता योगीन्द्र दास हैं।

मुझे गोद में लेकर बुआ के घर गये। बुआ ने राधू दीदी की कटोरी में दूध-भात सानकर स्वयं ही मुझे खिला दिया था। उस दिन बुआ ने मुझे एक जोड़ा चाँदी का कड़ा भी दिया था। वे कड़े आज भी बड़े यत्न से रखे हुए हैं। अब भी उसमें खूब चमक है। किशोरी महाराज (माँ के सेवक स्वामी परमेश्वरानन्द) ने मुझसे कहा था, ''अरे शान्ति, तेरे वे कड़े माँ ने तुझे अपने हाथों से दिये थे। उसका एक अलग ही मूल्य है। तू वे कड़े मुझे दे दे – मैं बेलूड़ मठ में रखवा दूँगा। माँ के अपने हाथों से दी हुई चीज है न!'' लेकिन मैं महाराज को वे कड़े न दे सका। जब तक प्राण रहेंगे, तब तक उन्हें किसी को भी नहीं दे सकूँगा। अनेक साधु तथा भक्त कड़े की बात सुनकर उसे देखना चाहते हैं। लाकर दिखाने पर वे उसे सिर से लगाकर प्रणाम करते हैं। बुआ के आशीर्वाद के स्मृतिचिह्न स्वरूप वह मेरे जीवन का अमूल्य सम्पदा है, इसलिये यक्ष के धन के समान कड़े को सुरक्षित रखा है। हर रोज उन्हें सिर से लगाता हूँ।

मैं बचपन से ही माँ के साथ बुआ के घर आता रहा हूँ, तो भी बुआ के पुराने मकान की बात याद नहीं। नये मकान में ही बुआ को देखने की बात याद है। जब पहली बार देखा, तब मेरी आयु सात-आठ वर्ष थी। पैर फैलाकर बैठी हुई बुआ की जो फोटो हैं, इसी तरह बैठे हुये बुआ को मैंने पहली बार देखा था। पिता के कहने पर मैंने बरामदे में जाकर बुआ को प्रणाम किया। बुआ ने मेरी ठुड्डी छुकर मुझे प्यार किया। उसके बाद हाथों में भरकर खाने को दिया। इस खाने के लोभ में ही मैं तथा मेरी बड़ी बहनें बुआ के घर प्राय: ही जाया करते थे। आते ही दोनों हाथ भरकर खाने को पाते। 'खाने को' अर्थात् धान के लावे के लड्डू, तिल के लड्डू, गुड़ की जलेबी, पकौड़ियाँ आदि। उन दिनों जयरामबाटी में आज की तरह छेने की मिठाई नहीं मिलती थीं। केवल हमीं लोगों को नहीं, बुआ के घर पर जाने पर बुआ सबको दोनों हाथ भरकर लड्डू तथा अन्य खाने की चीजें देती थीं।

राधू की माँ का सिर फिर गया था। हम उन्हें 'पगली मालकिन' कहते। वे बुआ को प्राय: ही बुरा-भला कहतीं। एक बार एक जलती हुई लकड़ी लेकर बुआ को मारने दौड़ी थीं। वैसे यह घटना मेरी देखी नहीं, बल्कि सुनी हुई है। बुआ तो कभी किसी को कठोर बातें कह नहीं सकती थीं। लेकिन उस दिन बुआ के मुँह से खूब कठोर बात निकल गयी थी। राधू की माँ को जलती हुई लकड़ी लेकर बुआ को मारने के लिये उद्यत देखकर बुआ के सेवक वरदा महाराज (स्वामी ईशानानन्द) ने उनके हाथ से उसे छीन लिया था। नहीं तो उस दिन न जाने क्या हो जाता। राधू-दीदी की माँ का यह कारनामा देखकर बुआ ने उस दिन कहा था, ''पगली यह तूने क्या किया! तेरा यह हाथ गिर जायेगा।'' इतना कहने के बाद बुआ के पश्चाताप का ठिकाना नहीं था। वे रोते हुए बोलीं, ''ठाकुर! यह तुमने मेरे मुँह से क्या कहलवाया? यह मैंने क्या किया? इस मुँह से तो कभी अभिशाप नहीं निकला! तुम इसे क्षमा करो।'' परन्तु उस समय जो होना था, वह हो चुका था। बुआ के मुँह की बात को काटने की सामर्थ्य तो भगवान में भी नहीं थी। हमने अपनी आँखों से देखा है – राधू दीदी की माँ के हाथों में गलित-कुष्ठ हुआ था। बुआ तो मनुष्य नहीं – साक्षात् भगवती थीं।

बुआ के गले का स्वर भी अलग ही था। खूब मधुर! रुक-रुक कर धीरे-धीरे बातें करतीं। बुआ के नये मकान में एक तोता था – गंगाराम। अनेक बिल्लियाँ थीं – ५-६ रही होंगी। कोई सफेद, कोई सफेद-काली, कोई सुनहली-सफेद, तो कोई भूरे रंग की। बुआ जब खाने बैठतीं, तो बिल्लियाँ भी बुआ की थाली के चारों ओर चुपचाप बैठी रहतीं। अपना खाना हो जाने के बाद बुआ दूध-भात सानकर बिल्लियों को खिलातीं। उन बिल्लियों का सौभाग्य देखकर ईर्ष्या होती। अभी भी सोचकर ईर्ष्या होती है। गंगाराम को भी बुआ अपने हाथों से खाने को देतीं। गाय-बछड़ों को भी देतीं।

बुआ के स्नेह की बात भुलायी नहीं जा सकती। छोटी जाति के लोगों को बुआ ने कभी छोटा नहीं देखा। दुले, बागदी, बारुई, डोम – सभी जातियों के लोग नि:संकोच भाव से बुआ के घर आते-जाते। सभी लोग कार्यवश ही बुआ के घर जाते हों ऐसी बात नहीं, वे उनके स्नेह के आकर्षण से जाया करते थे। उस जमाने में हम लोगों को ब्राह्मणों के घर की छत के नीचे जाने का अधिकार नहीं था। जयरामबाटी के ब्राह्मण लोग भी हम लोगों के स्पर्श से सैकड़ों हाथ दूर रहते थे। उस जमाने में जयरामबाटी के बीच हम लोगों ने बुआ के बिल्कुल समीप जाने का अबाध अधिकार पाया है। बुआ ने हम लोगों के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया है। नीची जाति के लोगों को उन्होंने अपने हाथ से खाना परोसकर खिलाया है, यहाँ तक कि जूठन भी साफ किया है। इसके लिये उन्हें गाँव के पंचों ने, ब्राह्मणों ने उन्हें बारम्बार जाति से निकाल देने की धमकी दी, जुर्माना किया। लेकिन बुआ ने कभी उसे महत्त्व नहीं दिया। वे हम लोगों की तरह सामान्य मनुष्य नहीं थीं। उनका सब कुछ भिन्न था।

मैंने बुआ को दो-एक बार हलदी गाँव में सामान खरीदने के लिये आते देखा है। वे पालकी में आयी थीं। उन दिनों हलदी में रामकुमार जुँइये की किराने की बड़ी दुकान थी और उपेन्द्र जुँइये की कपड़े की दुकान थी। बुआ के साथ एक या दो स्त्रियाँ भी रहतीं। हलदी में आकर वे काली-मन्दिर में बैठतीं। बुआ के साथ जो स्त्री या स्त्रियाँ आतीं, वे ही दुकान से सामान खरीदतीं। सुना है कि पहले भी जब कोलकाता से सहसा भक्तगण जयरामबाटी आ जाते, तब बुआ भोर में ही

एक-दो कामकाजी स्त्रियों को साथ लेकर सामान, सब्जी आदि खरीदने के लिये हलदी या किसी दूसरी जगह जातीं और भक्तों की नींद खुलने के पहले ही पैदल लौट आतीं। बुआ जब हल्दी आकर वहाँ के काली-मन्दिर में बैठतीं, तब गाँव के छोटे-छोटे बच्चे तथा बड़े लोग आकर वहाँ एकत्र हो जाते। बुआ सबके साथ बड़े सहज भाव से घुल-मिल जातीं। जगद्धात्री पूजा के समय सभी को पूजा देखने और प्रसाद पाने के लिये जयरामबाटी आने को कहतीं।

पिता के मुख से सुना है कि उन दिनों उत्तर-पश्चिम के नर-नारी उस अंचल में मजदूरी करने आया करते थे। वे धान की रोपाई तथा कटाई के समय काम करते थे। वे लोग महीने भर गाँव के बाहर छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनाकर रहते। दिन भर का काम खत्म होने पर शाम को बहुत-से मजदूर बुआ के घर पर आते। एक बार मजदूरिनों में से एक को बच्चा पैदा हुआ। बच्चे को पास में लिटाकर उसे धान की झड़ाई का काम करते देखकर बुआ को बहुत दुःख हुआ था। बुआ ने उस स्त्री को बुलाकर एक नया कपड़ा दिया। नवजात शिशु के लिये बुआ की चिन्ता का अन्त न था। कार्य समाप्त हो जाने के बाद मजदूर नर-नारी गाँव से विदा लेने के पहले बुआ से अवश्य ही मिलकर जाते। वे उन सभी को गुड़-मुरमुरे तथा पुराने कपड़े देतीं।

बुआ जब आखिरी बार जयरामबाटी छोड़कर कोलकाता गयीं, उस समय मेरी आयु दस वर्ष थी। बुआ की वह जाते समय की छबि अब भी मेरी आँखों के सामने जीवन्त है। उस बार भी बुआ हमेशा की तरह मेरे पिता की पालकी में शिहड़ से विष्णुपुर गयी थीं। बुआ के साथ उनकी भतीजियाँ तथा सेवक वरदा महाराज थे। उन दिनों जयरामबाटी से कोतुलपुर जाने के दो रास्ते थे। एक रास्ता हमारे गाँव तथा देशड़ा से होकर और दूसरा शिहड़-शिरोमणिपुर से होकर था। पहले रास्ते की दूरी कम होने पर भी रास्ते की हालत बहुत खराब थी और दूसरे रास्ते की दूरी अधिक होने पर भी रास्ता ठीक-ठाक था। अब वह दूसरा रास्ता चालू नहीं है। इस बार जब बुआ पालकी से जयरामबाटी से जा रही थीं, तो गाँव के बहुत से लोग शिहड़ तक उन्हें छोड़ने गये थे। मैं भी बुआ की पालकी के पीछे-पीछे शिहड़ तक गया था। बुआ ने शिहड़ के शान्तिनाथ के मन्दिर में पूजा करके सबको प्रसाद दिया। उस अन्तिम बार मुझे भी बुआ के हाथों से प्रसाद मिला था। उसके बाद बुआ की पालकी कोआलपाड़ा के रास्ते रवाना हुई। बुआ का यही मेरा अन्तिम दर्शन था।

बुआ के देहत्याग की खबर सुनकर मैं बहुत रोया था। किशोरी महाराज ने मुझे रोते देखकर कहा था, "बुद्धू, रोता क्यों है रे? माँ क्या कहीं चली गयी हैं? यहीं तो हैं।" महाराज की वह बात अब भी मेरे कानों में गूँजती है। मुझे विश्वास है कि बुआ पहले की ही तरह आज भी जयरामबाटी के अपने नये मकान में निवास कर रही हैं। अब मेरी आयु करीब नब्बे वर्ष है। शरीर अशक्त हो चला है। पर अभी भी मैं रोज हलदी से जयरामबाटी आता हूँ। बुआ का आँगन बुहारता हूँ। मेरा विश्वास है कि बुआ अब भी इसी आँगन में चलती-फिरती हैं। महाराज लोगों ने मेरे लिये प्रसाद की व्यवस्था कर दी है। वे लोग कहते हैं, "तुम्हें इस आयु में इतना कष्ट उठाकर झाड़ू लगाने की जरूरत नहीं है। तुम्हारी जब इच्छा हो चले आना और प्रसाद पाना।" मैं अभी रोज आता हूँ और प्रसाद पाता हूँ, लेकिन झाड़ू देना बन्द नहीं किया है। क्योंकि इस आँगन में बुआ अब भी टहलती हैं, इसलिये प्राणों के आकर्षण से आंगन में झाड़ू लगाता हूँ। बुआ के नये मकान में आने पर मैं मानो फिर से अपने बचपन में लौट जाता हूँ। मेरी आँखों के सामने वे बिल्लियाँ घूमती हैं, बुआ के तोते गंगाराम को भी देखता हूँ। देखता हूँ – बुआ मानो नये मकान के दरवाजे के सामने खड़ी हैं और मुझसे कह रही हैं, "बेटा शान्ति, जरा देखकर आ तो, लड़का गायों को चराकर लौटा या नहीं? बहुत देर हो गयी। उसके खाये बिना मैं भी खा नहीं सकूँगी।"

पैर फैलाये बैठी बुआ का चित्र मेरी आँखों के सामने मानो जीवन्त हो उठता है। वे वृद्ध थीं – पर उनकी आँखों में कैसी ममता थी! परन्तु एक दिन मुझे बुआ की एक अन्य मूर्ति भी देखने को मिली थी। उस दिन मैं और मेरी एक दीदी बुआ के नये घर में गये थे। बुआ घर के बरामदे में बैठी थीं। सहसा देखा कि बुआ उठ खड़ी हो गयीं। मैंने अवाक् होकर देखा – देखने में बुआ जैसी ही थीं, लेकिन ये कौन-सी बुआ हैं? युवती, दिव्य कान्ति से आलोकित, पीठ की ओर खुले हुए बाल, जो पैरों के पास धरती को छू रहे थे – ठीक माँ काली के समान। मैंने डरते हुए धीरे से दीदी को कहा, "बुआ को देख। बुआ के सिर पर कितने बाल हैं!" दीदी ने भी वही दृश्य देखा। हम लोग भय से दौड़ते हुऐ घर चले आये। बुआ की वह मूर्ति मुझे आज भी याद है।

बुआ ने मेरा नाम 'शान्ति' रखा था। आज मेरी केवल यही आकांक्षा है – कब बुआ मुझसे अपनी गोद में उठाकर पूर्ण शान्ति प्रदान करेंगी। ❑❑❑

# मनुष्य का ईश्वरत्व

*स्वामी आत्मानन्द*

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मेरे एक परिचित हैं। धर्मप्रेमी हैं, ईश्वर-भक्त हैं, सत्संग में जाते हैं। उस दिन घबड़ाये हुए से मेरे पास आये। कहने लगे - ''गजब हो गया ! मनुष्य तो ईश्वर हो गया।'' मैंने पूछा - ''क्या बात है?'' बोल उठे - ''अरे भाई, सृष्टि पैदा करने का काम ईश्वर का है, पर देखो आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नयी सृष्टि रच रहा है - नये उपग्रह बनाकर अन्तरिक्ष में छोड़ रहा है। चन्द्रमा पर तो वह चला ही गया, अब मंगल में जाने की तैयारी कर रहा है। 'टेस्ट-ट्यूब बेबी' का प्रयोग भी एक अंश में सफल हो गया। कल अब इस प्रयोग के सफल होने में क्या देरी है कि माता के गर्भ का सहारा न लेते हुए शिशु का जन्म प्रयोगशाला में हो जायेगा।'' मैंने फिर से पूछा - ''तो इससे क्या हुआ? आप इतने उद्विग्न क्यों हैं?'' वे बोले - ''क्यों, तब ईश्वर का स्थान कहाँ रहेगा? अगर मनुष्य ही ईश्वर की ताकत पाकर ईश्वर का सारा काम करने लगे, तो ईश्वर की क्या आवश्यकता रहेगी? तब तो धर्म के अभाव में अनैतिकता का बोलबाला हो जायेगा।'' मैंने कहा - ''आज क्या अनैतिकता का बोलबाला नहीं है? जो लोग अपने को ईश्वरभक्त और धार्मिक प्रदर्शित करते हैं, वे क्या अनैतिक कार्यों में लिप्त नहीं हैं? केवल विज्ञान की उन्नति से ही अनैतिकता बढ़ जायेगी?''

इस प्रकार का विचार रखने में मेरे वे परिचित व्यक्ति अकेले नहीं हैं, बहुत-से लोग ऐसा ही सोचते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म को विज्ञान से खतरा दिखायी देता है। पर सही बात यह है कि धर्म को विज्ञान से नहीं, अनैतिकता से खतरा है। जो धर्मध्वजी हैं, धर्म का झण्डा तो फहराते हैं पर अधर्म का आचरण करते हैं, ऐसे लोगों से धर्म और ईश्वर को खतरा है। यदि विज्ञान मनुष्य में निहित असीम शक्ति को प्रकट कर रहा है, तो वह वेदान्त के इस सिद्धान्त की ही तो पुष्टि कर रहा है कि जीव शिव है, हर आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य ईश्वर के ही समान सब कुछ करने में समर्थ है, उसमें अनन्त शक्ति है, पर अज्ञान के कारण वह अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता।

मनुष्य दो धरातल पर कार्य करता है - एक है शरीर का और दूसरा मन का। यदि वह अज्ञान के बन्धनों को काट सके, तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्ति सम्पन्न हो जायेगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। मनुष्य यह जो नयी सृष्टि रच रहा है, उपग्रह बना रहा है, यह उसी सत्य की पुष्टि करता है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है। यह जैसे बाहरी जगत् के सन्दर्भ में सत्य है, वैसे ही भीतरी जगत् के सन्दर्भ में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में स्वस्थ शिशु का जन्म हो जाय, तो उससे ईश्वर को कोई आँच न आएगी, बल्कि मनुष्य का ईश्वरत्व और सिद्ध हो जायेगा।

गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न होती है कि हम ईश्वर को व्यक्ति विशेष समझते हैं और कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहाँ से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व में सर्वत्र व्याप्त सर्वानुस्यूत नियम है जिसे बुद्ध ने 'धम्म' कहकर पुकारा। आइंस्टीन की भाषा में कहें तो वह Supreme intelligence यानी 'महत् बुद्धि' है। जैसे धर्म इस 'महत् बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। विज्ञान, ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को कहते हैं। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत् को छान-बीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं, तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है। और जब मन की खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं, तो वह 'धर्म की प्रणाली' के नाम से जाना जाता है। अज्ञान की परतें यदि हट जाएँ तो मनुष्य का छिपा हुआ ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है।

मनुष्य अनैतिक इसलिए हो जाता है कि वह अपने को मात्र देह में आबद्ध एक प्राणी मानता है। इसीलिए वह स्वार्थ-केन्द्रित हो जाता है। पर यदि उसमें अपने ईश्वरत्व का बोध जागे, तो वह स्वार्थ की संकीर्ण सीमा से ऊपर उठेगा और अधिक व्यापक दृष्टि का अधिकारी बनेगा। धीरे-धीरे वह अपने में निहित सत्य को दूसरों में भी देखने में समर्थ होगा। इसी को मनुष्य के ईश्वरत्व का जागरण कहते हैं। ❑

# तपस्या और चित्तशुद्धि

*स्वामी प्रेमेशानन्द*

तपस्या से ही सृष्टि का विकास हुआ है। इस जगत् में जहाँ भी कोई नवीन सृष्टि होती है, उसके पीछे तपस्या का प्रभाव दीख पड़ता है। तपस्या से राष्ट्र का अभ्युदय होता है और तपस्या से व्यक्ति का उत्थान होता है।

आत्मा की दो शक्तियाँ हैं – एक प्रज्ञा और दूसरी प्राण। प्रज्ञा-शक्ति बोधमयी है और प्राण-शक्ति कर्ममयी है। इन दोनों शक्तियों के जाग्रत होने पर मनुष्य सचमुच का मनुष्य होता है। साधारण जीव के शरीर में ये दोनों शक्तियाँ सोयी हुई रहती हैं, अत: वे लोग प्रकृति की प्रेरणा से केवल आहार-निद्रा में ही जीवन यापन करते हैं।

जो लोग पुण्य के प्रभाव से, किसी उपाय से इन दोनों शक्तियों को प्रबुद्ध कर पाते हैं, वे लोग धन्य हो जाते हैं।

इस जगत् में किसी भी व्यक्ति में कोई भी असाधारणत्व देखने में आये, तो यही समझना होगा कि उन्होंने जाने या अनजाने में किसी प्रकार इन दोनों शक्तियों को जगा लिया है। इन दोनों शक्तियों के विकास का तारतम्य ही व्यक्ति की महत्ता के तारतम्य का निर्धारण करता है।

प्रबल इच्छा के द्वारा ही इस शक्ति का विकास होता है। भारत में वैज्ञानिक उपाय से इस इच्छा को सबल किया जाता है। इसी विज्ञान का नाम योग और इसी का नाम तपस्या है।

बढ़ई जैसे कर्म आरम्भ करने के पूर्व अपने यंत्रों, औजारों आदि को पत्थर पर घिसकर उनकी धार को तीक्ष्ण कर लेता है, उसके बाद पलंग आदि का निर्माण करता है, वैसे ही तप:पूत शरीर-मन के द्वारा ही सभी प्रकार के अभीष्टों की सिद्धि होती है।

*           *           *

ईश्वर की उपासना ही परम तपस्या है।

कठोर तपस्या से जैसे मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, वैसे ही उससे संकट की भी काफी सम्भावना है। संकटपूर्ण पथ पर चलकर शीघ्र पहुँचने का प्रयास करने की अपेक्षा, थोड़े दीर्घ परन्तु सुरक्षित पथ पर चलना क्या अच्छा नहीं है?

भगवान की प्राप्ति से ही मोक्ष होता है। शरीर-मन को ईश्वर-प्राप्ति के लिये उपयुक्त करने हेतु कठोर तपस्या का अवलम्बन न करके केवल भगवान की आराधना मात्र से ही – उनके रूप का ध्यान, उनके गुणों का गान, उनके प्रिय कार्यों का सम्पादन करके उनकी कृपा पाने का प्रयास करने से बिना क्लेश मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

**आराधितो हरिः तपसा ततः किम् ।**
**नाराधितो हरिः तपसा ततः किम् ।।**

– यदि हरि की आराधना की जाय, तो फिर तप की क्या आवश्यकता है! क्योंकि हरि-स्मरण से सहज ही चित्त की मलिनता दूर हो जाती है। और हरि की आराधना को छोड़ किसी अन्य उपाय द्वारा आत्मशुद्धि की चेष्टा करने पर उसका केवल अस्थायी फल ही होता है।

ईश्वर की आराधना के फलस्वरूप चित्त उनके रूप तथा उनके भाव से परिपूर्ण हो जाता है – उन्हें छोड़ किसी अन्य विषय में मन लगाने की इच्छा नहीं होती। मन यदि क्षणिक मोहवश कुपथ पर जाता भी है, तो चित्त में तीव्र वेदना जाग्रत होती है और तब मन पुन: दुगने वेग से भगवान की ओर दौड़ता है। इस प्रकार करते-करते उनकी कृपा से यदि उनका दर्शन प्राप्त हो, तो समस्त दुख और समस्त अभाव चिर काल के लिये दूर हो जाते हैं।

भगवान ही मानव-जीवन के लक्ष्य हैं। यदि प्रारम्भ से ही उस लक्ष्य को पकड़कर चलने से उस लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय, तो मन को अन्य किसी चीज में लगाकर उसका अपव्यय करने की क्या आवश्यकता? जीव के लिये भगवान को न पाने से बढ़कर संकट दूसरा कोई नहीं है। और उन्हें पा लेने पर सारी सम्पदा एक साथ ही मिल जाती है – पाने को अन्य कुछ भी बाकी नहीं रह जाता।

उपवास या निर्जन-वास आदि उपायों के द्वारा तात्कालिक रूप से विषय-वासनाओं का त्याग किया जा सकता है, परन्तु ये वासनाएँ चित्त में सुप्त रहती हैं और मौका मिलते ही वे पुन: जाग उठती हैं। केवल परम पुरुष को पा लेने पर ही वासनाएँ निर्मूल होती हैं।

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।**

मुमुक्षु के लिये काय-क्लेश आदि तपस्या की अपेक्षा नि:सन्देह ईश्वरोपासना-रूप तपस्या अधिक उत्तम है।

शिव-बुद्धि से जीव-सेवा तपस्या का सार है।

भगवान की उपासना-प्रणालियों का कोई अन्त नहीं। अधिकांश उपासना-प्रणालियों में शारीरिक कठोरता का सम्पर्क न होने के कारण वे क्रमश: भोग-विलास का हेतु बन जाते हैं। इसी कारण नवयुग-प्रवर्तक आचार्य स्वामी विवेकानन्द महाराज एक अपूर्व साधन-प्रणाली आरम्भ कर गये हैं।

इसमें उन्होंने ज्ञान, योग, कर्म तथा भक्ति सहित तपस्या और कठोरता को जोड़कर भावी मानव के लिये सर्वोत्तम युगोपयोगी साधन-पथ का निर्माण किया है। जो मुमुक्षु प्रबल आग्रह के साथ देहपात-पूर्वक कठोर तपस्या के द्वारा शीघ्र ही ज्ञान-भक्ति प्राप्त करने को इच्छुक हों, वे जीव के हृदय में शिव के अस्तित्व को निश्चित करके पूरे मन-प्राण के साथ जीव-सेवा में प्रवृत्त हों, तो शीघ्र ही भव-बन्धन से मुक्त हो सकेंगे।

इस साधना का अवलम्बन करने के लिये पहले ज्ञान-विचार के द्वारा जीव-शिव के बीच अभेद-बुद्धि लानी होगी। द्वितीयत: निरन्तर नि:स्वार्थ सेवा के द्वारा जीव-रूपी शिव के प्रति प्रीति उत्पन्न करनी होगी। तृतीयत: अखण्ड मनोयोग के द्वारा सेवा को निर्दोष करना होगा। चतुर्थत: सेव्य जीव के लिये सतत प्राण देने को तैयार रहते हुए इस जगत् के समस्त आशाओं की तिलांजलि देनी होगी। अतएव सहज ही समझा जा सकता है कि इस सेवा-रूपी व्रत अंगीकार करने पर अति कठोर तपस्या के लिये तैयार रहना होगा।

इस मार्ग से वन में निवास न करके भी ज्ञानयोग की साधना सम्भव है, परन्तु ज्ञान-विचार द्वारा हृदय के शुष्क होने की सम्भावना नहीं है। इसमें भक्ति-साधना हेतु मन्दिर-निर्माण तथा देवता-स्थापन नितान्त अनावश्यक है; और इसमें भावुकता में बह जाने की भी सम्भावना नहीं है। निर्जन गिरि-कन्दरा में जो योग साधित होता है, जन-कोलाहल-युक्त नगरी में भी उसी योग का फल – निर्वात निष्कम्प दीपक के समान कामनाहीन चित्तवृत्ति की प्राप्ति इस सेवायोग के द्वारा सम्भव है और साथ ही इसमें योग-विभूति पाकर विपथगामी होने का भय भी नहीं है। सामान्य साधारण कर्म असामान्य असाधारण फल प्रदान करेगा। परन्तु कर्म के जो भयंकर दोष हैं, यह कर्म उनका भी निवारण करेगा। इस प्रकार के कर्म को ध्यान में रखकर ही भगवान गीताकार ने कहा है –

**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**
**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।**

मनुष्य बड़ा कष्ट उठाकर तपस्या करता है। परन्तु इस पथ में तपस्या साधक के पीछे-पीछे घूमती रहती है। यह सेवायोग ही वर्तमान युग की श्रेष्ठ तपस्या है, यही युगधर्म है। श्री भगवान अपने श्रीमुख से कहते हैं –

**असक्तोह्याचरण कर्म परमाप्नोति पूरुषः।**

– साधक अनासक्त होकर कर्म करते-करते ही परम पुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

(बँगला ग्रन्थ 'एक सोनार मानुष', पृ. १३०-३१, १६१-६३)

# जपमाला के विविध रूप

*स्वामी श्रद्धानन्द*

साधकगण जपमाला के साथ जप करते हैं। माला रुद्राक्ष की, स्फटिक की, चन्दन की या किसी अन्य प्रकार की हो सकती है। माला घूमने के साथ-साथ कण्ठ से, जिह्वा से या मन-ही-मन मंत्र उच्चरित होता रहता है। माला एक बार घूमने पर ५४ या १०८ की और दस बार घूमने पर ५४० या १०८० की संख्या पूरी होती है। माला का उद्देश्य है जपकर्ता की जपसंख्या को ठीक रखना।

इसका दूसरा उद्देश्य है जापक के मन की एकाग्रता में सहायता करना। चंचल मन दसों दिशाओं में दौड़ना चाहता है, परन्तु माला की सहायता से जप करने पर मन का थोड़ा-सा अंश माले के साथ जुड़े रहने को बाध्य होता है। इसका उद्देश्य यह है कि मन जितना भी हो सके, मंत्र में लगे, परन्तु बाकी मन हाट-बाजार में न दौड़कर लाले से बँधा रहे।

इन दो के अतिरिक्त माले का एक तीसरा उद्देश्य भी है – जप-साधना को सबल करना, उसे उच्च से उच्चतर स्तर में ले जाना। जप-साधना के प्रारम्भिक स्तर में माला-जप का यह तृतीय तत्त्व पकड़ में नहीं आता। मंत्र में विश्वास तथा प्रीति में जितनी ही वृद्धि होती है, यह विषय उतना ही बोधगम्य होता जाता है। तब भी साधक माला-जप करते हैं, परन्तु वह संख्या गिनने के लिये होता है और मन की एकाग्रता में सहायता के लिये होता है। माला का फिरना उसके लिये क्रमश: मंत्रजप की शक्ति तथा आनन्द के साथ एकाकार होता जाता है। लगता है मानो सम्पूर्ण विश्व-प्रकृति उसके माला फेरने में योग दे रही हो, उसके मंत्रजप के ताल पर नृत्य कर रही हो। रूप-रस-शब्द-स्पर्श-गन्ध की अगणित अभिव्यक्तियाँ मन को बाहर न खींचकर, मित्र के रूप में माला के सहारे मंत्ररूप परमात्मा का सान्निध्य पाने को इच्छुक हैं। मंत्र-साधना के समय यदि माला बाहर के विभिन्न विक्षेपों को स्वयं में आकृष्ट करके साधक के जप-विघ्न को दूर कर सके, तो माला अवश्य ही उसका परम मित्र है। जब हम माला के इस सूक्ष्मतर तथा बलवत्तर अवदान को समझ पाते हैं, तब हमारी जप-प्रणाली भी क्रमश: बदलती जाती है और माला का उपादान भी रुद्राक्ष-तुलसी-स्फटिक आदि से भिन्न वस्तु में परिवर्तित हो जाता है।

*         *         *

भारतवर्ष की धर्म-संस्कृति में भगवान का नाम एक शब्द मात्र नहीं, बल्कि उनकी शब्दमयी मूर्ति है। शास्त्र तथा सन्त-महापुरुषगण प्राचीन काल से ही ईश्वर के नाम तथा उनके मंत्र को ईश्वर का ही स्वरूप समझने का उपदेश देते आये हैं। भारत के सभी सम्प्रदायों में मंत्र के माध्यम से भगवान की उपासना प्रचलित है। नाम-जप की प्रारम्भिक अवस्था में नाम का शब्द के रूप में बोध होना स्वाभाविक है। परन्तु नाम में विश्वास तथा एकाग्रता में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों नाम की चैतन्य सत्ता का बोध होने लगता है। साधक नाम तथा मंत्र के भीतर अपने आराध्य इष्ट के ज्ञानघन अस्तित्व तथा प्रेम के स्पर्श का स्पष्ट अनुभव करने लगता है। मंत्रजप उसके पूरे देह-मन-प्राण को अमृत से सिंचित तथा ज्योतिर्मय कर डालता है।

*         *         *

जो प्राणवायु शरीर में निरन्तर श्वास-प्रश्वास के माध्यम से संचरित होते हुए एक चक्र की रचना कर रही है, वही प्राणवायु साधक की जपमाला का रूप ले सकती है। प्राण का जैविक उत्तरदायित्व है देह की रक्षा करना, परन्तु इसके अतिरिक्त वह साधक की साधना का सहचर हो जाता है। साधक को बोध होता रहता है कि उसका मंत्र-जप प्राणवायु के चक्र के साथ व्यक्त हो रहा है। मंत्र-चैतन्य प्राण-क्रिया के साथ जुड़कर जैविक प्राण को दिव्य प्राण में रूपान्तरित कर रहा है। प्राण-वायु का जैविक कार्य है – रक्त को शुद्ध करना, शरीर की करोड़ों कोशिकाओं को (बल प्रदान करना)। दिव्य प्राण का कार्य है – रक्त-प्रवाह में तथा जैविक कोशिकाओं में आध्यात्मिक शक्ति को जगाना। प्राणमाला जप की गिनती नहीं रखती। वह मंत्र की चैतन्य-सत्ता द्वारा प्रकट होकर शरीर की काम-क्रोध आदि प्रवृत्तियों की दिशा मोड़ देती है। प्राण को जपमाला बना लेने पर बाहर रुद्राक्ष या तुलसी की माला पर भी जप चल सकता है। यहाँ 'अति' में दोष नहीं है। सह-संगीत की प्रस्तुति में यदि दस प्रकार के वाद्य समान नियम के अनुसार बजें, तो उससे संगीत में दोष नहीं – बल्कि उसके माधुर्य में ही वृद्धि होती है।

मन साधक की जपमाला है। मन में नाना वृत्तियों का उदय तथा विलय मानो माला का घूमना है। तब मन की वृत्तियाँ विक्षेप उत्पन्न नहीं करतीं, बल्कि जप-साधना के एक अंग के रूप में उसकी आध्यात्मिक सहचरी बन जाती हैं। साधक के कण्ठ या हृदय में जपमंत्र ध्वनित होता है। वह ध्वनि चित्त की वृत्तियों का स्पर्श करके उन्हें पवित्र करती है। इससे वे राजसिक तथा तामसिक अभिव्यक्तियों को काटकर सात्त्विक भूमि में पहुँच जाती हैं। साधक पहले जप करते समय मन की विविध वृत्तियों को देखकर कष्ट का अनुभव करता था, विक्षिप्त मन को शत्रु जैसा मानता था और जप में मन को एकाग्र करने हेतु भगवान से प्रार्थना किया करता था; परन्तु अब वह क्लेश नहीं रह जाता। अब मन ही उसकी जपमाला हो गयी है और मन की वृत्तियाँ उस माला के मनके हैं। प्रत्येक वृत्ति मंत्र-चैतन्य से आलोकित है। मन अब जप का शत्रु नहीं, मित्र है। मन की वृत्तियाँ अपना मायामय रूप छोड़कर अपने अन्तर्निहित चेतन सत्ता से उद्भासित हो उठी हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में अष्टम प्रपाठक के प्रथम तीन परिच्छेदों में सच्ची कामना तथा मिथ्या कामना पर चर्चा करते हुए ऐसा ही संकेत दिया गया है। जिस चैतन्य सत्ता से यह विश्व-ब्रह्माण्ड आवृत्त तथा ओतप्रोत है, जब तक हम उसे नहीं जानते, तब तक तीनों लोकों के समस्त काम्य विषय हमारे लिये 'अनृता-पिधाना:' – मिथ्या द्वारा आच्छन्न हैं। जिस भाग्यवान साधक ने अपने हृदय में चैतन्य-स्वरूप परमात्मा का दर्शन किया है, उसके लिये मिथ्या काम्य पदार्थ 'सत्या: काम्य:' – सत्य-कामना रूप में प्रतिभात होते हैं। परलोक-गत पिता, दादा, पड़दादा आदि पितृलोक-वासी सम्बन्धी; माता, नानी आदि मातृलोक की निवासिनियाँ; जीवित तथा मृत भाई, बहन तथा मित्रगण – ये सभी आत्म-सत्य की ज्योति से उद्भासित होकर साधक को आनन्द प्रदान करते हैं। गन्ध-माल्य, अन्न-पेय, गीत-वाद्य, यहाँ तक कि रूप-यौवन-सम्पन्न सुन्दर नारियाँ – जो कभी भोग्य-विषयों के रूप में चित्त को आकृष्ट किया करते थे, अब वे परमात्मा के प्रतिबिम्ब के रूप में दिव्य आनन्द वहन कर लाती हैं। जैसे पारस पत्थर के द्वारा लोहे का स्पर्श करने पर लोहा सोने में परिणत हो जाता है, (वैसे ही) भोग्य विषयों को आत्म-चैतन्य के साथ जोड़कर देख पाने से, वे सांसारिक भोग्य विषयों के स्थान पर सच्चिदानन्द की खण्ड-खण्ड मूर्तियों में परिणत हो जाते हैं। मन जब साधक की जपमाला बनकर उसकी जप-साधना में योगदान करने लगता है,, तब मन की वृत्तियाँ इष्टमूर्ति की ही अंग-प्रत्यंग बन जाती हैं।

*         *         *

यह भौतिक शरीर साधक की जपमाला है। देह के सारे अंग-प्रत्यंग उस माला के मनके हैं। कण्ठ या मन से जप का उच्चारण हो रहा है – उसी मंत्र का सूक्ष्म स्पन्दन देह के विभिन्न अंगों को प्रतिध्वनित कर रहा है। वे उल्लासपूर्वक साधक की जपक्रिया में योगदान कर रहे हैं। जप के समय सिर अब इधर-उधर हिलना-डुलना नहीं चाहता; नेत्र, कान, नाक, हाथ, पाँव अब बाहर की दौड़-धूप से विमुख हो गये हैं। शरीर के ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की ओर एक वृत्त बन गया है। उस वृत्त के हर अंश से महामंत्र का चैतन्य-स्पर्श लग रहा है। साधक को स्पष्ट रूप से बोध होता है कि उसका शरीर जैविक देह नहीं, वह चेतनामय है।

कठोपनिषद् में कहा गया है –

**पुरमेकादश-द्वारमजस्यावक्रचेतसः ।**
**अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यत**
**एतद्वै तत् ।। २/२/१**

– ''ग्यारह द्वारोंवाला शरीर मानो एक नगर है। उस नगर के स्वामी परमात्मा हैं। इस प्रकार इन स्वामी का ध्यान करने से साधक शोकरहित हो जाता है, उसकी कामनाएँ-माया-मोह आदि सब चले जाते हैं और वह परम मुक्ति प्राप्त करता है।''

जप-साधक के लिये महामंत्र ही परम पुरुष है। यह देह पुरुष का विलास-क्षेत्र है। जैसे राजा के पुरी में रहने पर उसके सभी द्वार स्वच्छ तथा सुसज्जित रहते हैं; पुरी के घर, मकान, दुकान, सड़क आदि राजा के ऐश्वर्य तथा प्रभाव का परिचय देते हैं; उसी प्रकार मंत्र-साधक का शरीर, इन्द्रियाँ तथा सभी अंग महामंत्र की सात्त्विक शक्ति से देदीप्यमान हो जाते हैं।

*    *    *

यह विश्व-ब्रह्माण्ड साधक की जपमाला है। सूर्य उस माले का एक मनका है, चन्द्रमा दूसरा, तारा-मण्डल तीसरा, आकाश चौथा, समुद्र पाँचवाँ, वनस्थली छठवाँ, मरुभूमि सातवाँ – इसी प्रकार चराचर जगत् के किसी भी अंश का चिन्तन करो, ये सभी उसी विराट् जपमाला के विभिन्न मनके हैं। मंत्र-चैतन्य प्राणों के परे, मन के परे, देह के परे – अनन्त देश-काल में व्याप्त है। अखिल विश्व मंच की चेतना से जुड़ा हुआ है। इस संयोग के फलस्वरूप भौतिक जगत् अपना भौतिक मुखौटा छोड़कर अपने चैतन्य रूप में प्रकट हो जाता है। कठोपनिषद् के पूर्वोद्धृत श्लोक के बादवाले श्लोक में इसी अनुभूति का आभास मिलता है –

**हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षस-**
**द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।**
**नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा**
**ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।। २/२/२**

जो ब्रह्म-चैतन्य एक व्यक्ति के हृदय में आसीन रहकर उसके शरीर-मन-प्राण को उद्भासित करता है – वही निकट तथा दूर की सभी वस्तुओं में, सभी क्रियाओं में और प्रकृति की समस्त अभिव्यक्तियों में विराजित है। वही सूर्य के रूप में प्रकाश एवं ताप विकिरित करता है, वही स्वर्गलोक की गरिमा है और वही सर्वव्यापी तत्त्व अन्तरिक्ष के परे भी है। वही धरती पर अग्नि है, वही यज्ञ-कलश का पावन जल है, वही मनुष्य तथा देवी-देवताओं में है, वही आकाश के नभचर पक्षियों में, जलचर जन्तुओं में और वही पृथ्वी के असंख्य वनस्पतियों तथा जीव-प्रजातियों में है। वही यज्ञ से उत्पन्न यज्ञ-फल और उत्तुंग पर्वत-शिखरों के शुभ्र तुषार के रूप में विद्यमान है। वही समस्त परिवर्तनों का संचालक है, अतः स्वरूपतः अपरिवर्तनीय सर्वोत्तम महत्तम बृहत् भी है।

*    *    *

वेद (तैत्तिरीय., १/१८) घोषणा करते हैं – ॐ इति ब्रह्म – आदि शब्द ॐकार ही सबका कारण (मूल) ईश्वर है और वही वाक्य-मन के परे, कारण से अतीत परमात्मा है। पुराण और तंत्र उसी आदि शब्द के साथ भगवान के विभिन्न नामों तथा बीजों को जोड़कर विभिन्न स्तर के साधकों के लिये अनेक प्रकार के मंत्र प्रस्तुत करते हैं, परन्तु मंत्रों में वेदों की आदि घोषणा का परित्याग नहीं हुआ है। साधक को अपना यही विश्वास सुदृढ़ करना पड़ता है कि इष्टमंत्र इष्टदेवता का ही स्वरूप है। श्रद्धा एवं प्रीति के साथ जप का अभ्यास करने पर मंत्र, साधक को क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आध्यात्मिक अनुभूति का अधिकारी बनाता है। साकार हो या निराकार, भगवान का कोई भी भाव मंत्र की सहायता से सजीव हो उठता है। जपमाला मंत्र-साधना में विशेष सहायक है। मंत्र के आध्यात्मिक स्वरूप के स्फुरण के साथ-साथ जपमाला का भी आध्यात्मिक रूपान्तरण होता रहता है। यह रूपान्तरण जड़ देह, जड़ प्राण, जड़ मन तथा जड़ जगत् को क्रमशः चैतन्यमय कर डालता है। मंत्रजप अन्त में 'अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम् (कठ. १/३/१५) – एक अनिर्वचनीय परम एकत्व में विलीन हो जाता है, जपमाला भी उसी एकत्व की स्थिति को प्राप्त करता है।

**(बंगला पुस्तक 'भक्त्या माम् अभिजानन्ति' से अनूदित)**

## जहाँ राम तहाँ काम नहीं

मन्दोदरी ने अपने पति रावण से कहा था, ''यदि तुम्हें सीता को रानी बनाने की इतनी चाह है तो तुम एक बार अपनी माया से राम का रूप धारण कर उसके सामने क्यों नहीं जाते?'' तब रावण ने कहा, ''छी ! राम-रूप का चिन्तन करते ही हृदय में ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है कि उसके आगे ब्रह्मपद भी तुच्छ जान पड़ता है, फिर पराई स्त्री की तो बात ही क्या है?''

– *श्रीरामकृष्ण*
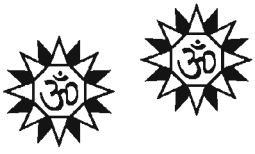
# पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१५)
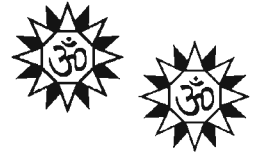
*स्वामी प्रेमेशानन्द*

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

**जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात् ।।२।।**

– प्रकृति के आपूरण (पूर्ण होने) से एक जाति दूसरी जाति में परिवर्तित हो जाती है।

**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।।३।।**

– सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं। वे केवल उसकी बाधाओं को दूर करने वाले निमित्त मात्र हैं। जैसे – किसान जब पानी के प्रवाह में बाधा पहुँचाने वाली मिट्टी-घास आदि को निकाल देता है, तो पानी सहजता से प्रवाहित होने लगता है।

**व्याख्या** – मनुष्य की उन्नति-अवनति को हमलोग नित्य देखते-रहते हैं। इस सम्बन्ध में लोगों की इतनी भ्रमपूर्ण धारणा है कि कोई-कोई मानते हैं कि 'सबकुछ भगवान की इच्छा से होता है' और कोई-कोई मानते हैं कि 'यही कपाल में लिखा है'। बहुत कम लोगों की यह धारणा होती है कि अपने कर्म-फल के द्वारा, अपने कर्मों के कारण ही उन्नति-अवनति होती है। इस विषय को जानना हमलोगों के लिये आवश्यक है। यहाँ दो सूत्रों में इसे स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

महर्षि पतंजलि जी कहते हैं कि मनुष्य के जीवन में जो उन्नति-अवनति देखी जाती है, वह जीव का स्वभाव अर्थात् स्वरूप का प्रकाश और अप्रकाश मात्र है। इस संसार की सम्पूर्ण वस्तु को हमलोग खण्ड-खण्ड में विभाजित देखते हैं। किन्तु वास्तव में संसार की सभी वस्तुयें एक अखण्ड सत्ता में अवस्थित हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं – "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।"[३] इसलिये जितना ही भेद और विषमता की ओर से मन को हटाकर अपने भीतर हृदयस्थ, अखण्ड सत्ता की ओर मन को अग्रसर किया जाय, उतना ही हृदय में समष्टि का ऐश्वर्य प्रकाशित होता है।

हम लोग सोचते हैं कि मनुष्य की उन्नति उसके पुरुषार्थ और तपस्या के कारण ही होती है। किन्तु वास्तव में उसके प्रयास से उन्नति-मार्ग की बाँधायें केवल दूर होती हैं। शक्ति भीतर से ही आती है। जैसे किसी तालाब से समीप की जमीन में जल ले जाने के लिये, तालाब और खेत के बीच बाधा रूप में स्थित मिट्टी को हटा देने से, मार्ग के साफ होने पर पानी स्वयं ही खेत में आने लगता है।

इस तत्त्व, रहस्य को जानने के बाद मनुष्य के मन से निराशा सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाती है और पुरुषार्थ करने की प्रबल प्रेरणा और निरन्तर उत्साह का उदय होता है। इसीलिये इस तत्त्व, रहस्य को सबको जानने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है – "मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है। मनुष्य में अन्तर्निहित दिव्यत्व की अभिव्यक्ति ही धर्म है।"

**निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।।४ ।।**

– योगी अपने अहंतत्त्व के द्वारा एक से अधिक चित्त या मन का निर्माण कर सकते हैं।

**प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।।५ ।।**

– यद्यपि पूर्वोक्त निर्मित चित्तों या मनों के कार्य विभिन्न प्रकार के हैं, तथापि एक आदि (मूल) चित्त, मन ही उन सबका नियन्त्रणकर्त्ता है।

**व्याख्या** – विद्या-माया की सहायता से ब्रह्म एक अंश में स्वयं को अनेक रूपों में विभक्त करते हैं। प्रत्येक अंश ही एक-एक जीव है। इसका तात्पर्य है कि जीव के समक्ष एक आवरण के जैसी वस्तु आकर उपस्थित होती है और जीव इसकी ओर देखते-देखते अपने स्वरूप को बिल्कुल ही भूल जाता है। उसके बाद करोड़ों-करोड़ों वर्षों तक इसी आवरण के मध्य अनेकों प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। जीव उसे देखता है किन्तु वह समझता है कि यह परिवर्तन उसका ही हो रहा है। यही जीव का जीवन है।

माया के इस खेल को देखने के लिये जीव इतना व्याकुल हो जाता है कि इस खेल के समाप्त न होने तक उसका अपना स्वरूप-बोध किसी भी तरह से पुनः वापस नहीं आता। खेल के अन्त में, खेल बहुत जम जाती है। उसके कारण सुख के साथ असीमित दुख भी मिलता है। बहुत कष्ट भोगने पर मनुष्य के मन में बीच-बीच में यह विचार आता है कि जीवित नहीं रहना ही अच्छा होगा। मनुष्य की इसी व्यथा-वेदना को दूर करने के लिये शान्ति लोक (परम धाम) का उपदेश और वहाँ जाने के मार्ग की प्रेरणा परमब्रह्म परमात्मा महापुरुष और शास्त्रों

३. जैसे सूत्र में मणी गुथी हुयी रहती है, वैसे ही यह संसार मुझमें अवस्थित है, मुझसे संयुक्त है। गीता – ७-७

के द्वारा मनुष्य को प्रदान करते हैं। बहुत कम लोगों के कानों तक ही यह उपदेश पहुँचता है। जो लोग सुन पाते हैं, वे लोग भी इस (परमात्मा के) मार्ग पर 'जाऊँगा-जाऊँगा' ऐसा सोचते-सोचते ही अनेकों जन्म व्यर्थ गँवा देते हैं। जो लोग साधना के मार्ग में अत्यन्त उत्साह के साथ तीव्र गति से अग्रसर होते हैं, उनके पूर्व के लाखों जन्मों के संस्कार उन्हें पीछे की ओर खींचते रहते हैं। मुक्ति-प्राप्ति के अधिकारी होकर भी, बहुत से साधक इस प्रकार के पूर्व संस्कारों की प्रबलता से स्व-स्वरूप, आत्मस्वरूप, ज्ञान के समीप पहुँचकर भी वहाँ से पुन: वापस आने के लिये बाध्य हो जाते हैं। देवताओं के प्रलोभन की जो बात कही गयी है, वह इस पूर्व-संस्कार की एक दूसरे रूप में अभिव्यक्ति मात्र है।

पूर्व-जन्म के इन संस्कारों को नष्ट करने के लिये सिद्ध-योगी लोग एक अद्भुत उपाय की सहायता लेते हैं। चित्त में जिन विलक्षण वासनाओं का आकर्षण रहता है, उन सभी वासनाओं को भोगकर, उन्हें समाप्त करने के लिये वे लोग अपनी सत्ता से (यौगिक शक्ति से) बहुत से जीवों की सृष्टि करते हैं तथा उन जीवों के तन-मन की सहायता से इन अभुक्त भोगों का भोग कर, अपने संस्कार को विनष्ट करते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे – छोटी-छोटी भोग-वासनाओं को थोड़ा भोग करके, उनको त्याग देना चाहिये और बड़ी-बड़ी भोग-वासनाओं को विचार-विश्लेषण करके विवेक द्वारा त्याग कर देना चाहिये। पुराण में उल्लेख है कि योगी लोग 'निर्माण देह' की सहायता से अपनी भोग-वासनाओं को समाप्त कर देते थे।

पूर्व संस्कारों की प्रेरणा से ही मनुष्य का जन्म होता है। किन्तु इन निर्माण-देहधारी प्राणियों के पीछे तो उनका कोई अपना संस्कार नहीं है, तो फिर वैसा उनका शरीर-मन कैसे निर्मित होता है? ऋषि कहते हैं कि इन प्राणियों का कोई अलग अस्तित्व नहीं है, ये योगी के खेल की पुतली के समान हैं, ये निर्माता को केवल खेल दिखाते रहते हैं। पहले ही कहा गया है कि सिद्ध-पुरुष का प्रकृति के ऊपर पर्याप्त अधिकार रहता है। वे अपनी सत्ता से, शक्ति से ही मानो ('अस्मिता मात्रात्') इन निर्मित-शरीरों को प्रस्तुत कर देते हैं। इन सब शरीरों की सहायता से भोग की इच्छा के नष्ट हो जाने के बाद, ये सभी निर्मित जीव शून्य में विलीन हो जाते हैं। ये सब कार्य स्वप्न के समान हैं। जैसे स्वप्न के साथ वास्तविकता का कोई सम्बन्ध नहीं होता है, किन्तु संस्कार-रूप में वह स्वप्न रहता है।

यह कार्य अत्यन्त विलक्षण और असम्भव प्रतीत होता है। किन्तु पहले ही बार-बार कहा गया है कि संसार की प्रकृति महामाया अधिकांश रूप से योगी के अधीन हो जाती है और इसीलिये वे लोग अनेकों असम्भव कार्य भी सम्भव कर सकते हैं।[४]

**तत्र ध्यानजमनाशयम् ।।६ ।।**

– उन विभिन्न चित्तों में से जो चित्त समाधि को प्राप्त करता है, वह वासनाशून्य होता है।

**व्याख्या** – मानव के चित्त के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कही गयी हैं। उन सभी बातों का सार यह है कि स्व-स्वरूप का चिन्तन करते-करते मन सम्पूर्ण रूप से समाधिस्थ हो जाता है। उसके बाद समाधि भंग होने पर उबाले हुये बीज की तरह पूर्व-संस्कारहीन जो चित्त रहता है, उसमें लेशमात्र भी वासना नहीं रहती है।

**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।७ ।।**

– साधारणत: कर्म तीन प्रकार के होते हैं – शुक्ल (शुभ, अच्छा), कृष्ण (अशुभ, बुरा) और मिश्र (अच्छा और बुरा दोनों)। किन्तु योगियों के कर्म अशुक्ल-कृष्ण (भले, बुरे) नहीं होते हैं। वे भले-बुरे का त्याग कर निष्काम कर्म करते हैं। अत: वे त्रिविध कर्म से परे हैं

**व्याख्या** – जिस किसी भी कर्म को करने पर उसके साथ शुभ (अच्छा) और अशुभ (बुरा) दोनों ही जुड़ा रहता है। श्रीमद्-भगवद्गीता में कहा गया है – 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता: ।''[५] किन्तु चित्तवृत्ति का निरोध कर, उसे ईश्वर-चिन्तन में लगाने पर योगी के मन में किसी प्रकार की वासना नहीं रहने से, उनका कर्म के साथ पाप-पुण्य का कोई संस्पर्श, संसर्ग नहीं होता।

❖ (क्रमश:) ❖

---

४. 'निर्माणचित्त' के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द जी ने 'कैवल्यपाद' के चौथे सूत्र की व्याख्या करते समय इस विषय को सरल ढंग से समझाया है – ''योगी लोग जल्दी-जल्दी कर्म का क्षय करने के लिये 'काय-व्यूह' अर्थात् एक साथ बहुत से शरीरों का सृजन करते हैं। फिर इन सब शरीरों के लिये वे अपनी अस्मिता या अहं-तत्त्व से बहुत से चित्तों की सृष्टि करते हैं। इन निर्मित चित्तों को, मूल चित्त से उनका भेद स्पष्ट करने के लिये, 'निर्माणचित्त' कहते हैं।''

परवर्ती पाँचवें सूत्र की व्याख्या में स्वामीजी कहते हैं – ''ये अलग-अलग मन (चित्त) जो अलग-अलग शरीरों में कार्य करते हैं, 'निर्माणचित्त' कहलाते हैं और इन निर्मित शरीरों को 'निर्माणदेह' कहते हैं अर्थात् विशेष रूप से निर्मित शरीर और मन। जिस उपादान से इस बृहत् ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है, यह 'निर्माणचित्त' भी उसी उपादान से निर्मित होता है। अस्मिता ही वह उपादान, वह सूक्ष्म वस्तु है, जिससे योगी के ये 'निर्माणचित्त' और 'निर्माण देह' तैयार होते हैं। इसीलिये, योगी जब प्रकृति की इन शक्तियों का रहस्य जान लेते हैं, तब वे अस्मिता नामक पदार्थ से जितनी इच्छा हो, उतने मन और शरीर का निर्माण कर सकते हैं। (वि.सा. खण्ड १, पृष्ठ २०७-८)

५. अर्थात् जैसे अग्नि में धुँआ रहता है, वैसे ही सभी कर्म त्रिगुणात्मक होने से दोषपूर्ण होते हैं। (गीता १८/४८)
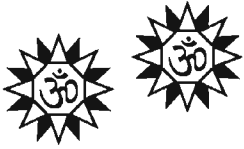
# स्वामीजी की अस्फुट स्मृतियाँ

***स्वामी शुद्धानन्द***

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

❖ (गतांक से आगे) ❖

एक दिन सुबह के करीब ९ बजे मैं एक कमरे में बैठकर कुछ कर रहा था, तभी सहसा तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) आकर बोले, "स्वामीजी से दीक्षा लोगे?" मैंने कहा, "जी हाँ।" इसके पूर्व मैंने अन्य किसी से मंत्र-दीक्षा नहीं ली थी। मैं उनके साथ पूजा-गृह की ओर बढ़ा। मैं नहीं जानता था कि उस दिन शरच्चन्द्र चक्रवर्ती भी दीक्षा ले रहे हैं। तब तक दीक्षा पूरी नहीं हुई थी, इसलिये मुझे कुछ देर तक पूजा-गृह के बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ी। शरत् बाबू ज्योंही बाहर आये, तुलसी महाराज मुझे स्वामीजी के पास ले जाकर बोले, "यह दीक्षा लेना चाहता है।" स्वामीजी ने मुझसे बैठने को कहा। उसके बाद उन्होंने पूछा, "तुझे साकार अच्छा लगता है या निराकार?" मैं बोला, "कभी साकार अच्छा लगता है, तो कभी निराकार।"

इस पर स्वामीजी बोले, "ऐसा नहीं होना चाहिये; गुरु समझ सकते हैं कि किसका क्या मार्ग है; ला, तेरा हाथ देखूँ।" ऐसा कहकर मेरा दाहिना हाथ अपने हाथ में लेकर थोड़ी देर मानो ध्यान करने लगे। उसके बाद हाथ छोड़कर बोले, "तूने कभी घट-स्थापना करके पूजा की है?" गृहत्याग के कुछ पूर्व मैंने घट-स्थापना करके बहुत देर तक कोई पूजा की थी। वह बात मैंने उनसे बतायी। तब उन्होंने मुझे एक देवता का मंत्र बताकर उसे अच्छी तरह समझा दिया और कहा, "इस मंत्र से तुझे सुविधा होगी; और घट-स्थापना करके पूजा करने से भी तुझे सहायता मिलेगी।" उसके बाद मेरे बारे में एक भविष्यवाणी करने के बाद उन्होंने मुझसे सामने पड़ी हुई कुछ लीचियों को गुरु-दक्षिणा के रूप में देने को कहा। मुझे दीक्षा देने के कुछ देर बाद स्वामीजी का भोजन हुआ। मैंने और शरत् बाबू ने स्वामीजी की थाली में से प्रसाद ग्रहण किया।

मैंने देखा कि भगवान की शक्ति के रूप में यदि मुझे किसी देवता की उपासना करनी हो; तो स्वामीजी ने जिस देवता का मुझे उपदेश दिया, वही मेरे स्वभाव के पूर्णत: उपयुक्त था। सुना था कि सच्चे गुरु शिष्य का स्वभाव समझकर मंत्र देते हैं, स्वामीजी में आज मुझे उसी का प्रत्यक्ष प्रमाण मिला।

उन दिनों श्रीयुत् नरेन्द्रनाथ सेन द्वारा सम्पादित 'इंडियन मिरर' नामक अंग्रेजी अखबार मठ को बिना-मूल्य दिया जाता था, पर मठ के संन्यासियों की ऐसी हालत थी कि वे उसका डाक-खर्च भी नहीं दे पाते थे। अखबार एक व्यक्ति के द्वारा वराहनगर तक वितरित होता था। वराहनगर में 'देवालय' के संस्थापक सेवाव्रती श्री शशिपद वन्द्योपाध्याय द्वारा स्थापित एक विधवाश्रम भी था। इस आश्रम के लिये वहाँ उस समाचार-पत्र की एक प्रति आती थी। 'इंडियन मिरर' का हरकारा बस वही तक आता, इसलिये मठ का समाचार-पत्र भी वहीं दे जाता। अखबार को वहाँ से प्रतिदिन मठ में लाना पड़ता था। उक्त विधवाश्रम के प्रति स्वामीजी की काफी सहानुभूति थी। अपने अमेरिका-प्रवास के दौरान स्वामीजी ने अपनी इच्छा से इस आश्रम की सहायता के लिये एक व्याख्यान दिया था और उस व्याख्यान के टिकटों की बिक्री से जो आय हुई, उसे इस आश्रम को भिजवा दिया था। अस्तु। उन दिनों मठ के लिये बाजार करना, पूजा की व्यवस्था आदि सभी कार्य कन्हाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) को करने पड़ते थे। इस 'इंडियन मिरर' अखबार को लाने का भार भी उन्हीं के ऊपर था। उस समय मठ में हम लोग बहुत से नव-दीक्षित संन्यासी-ब्रह्मचारी एकत्र हो गये थे, परन्तु तब भी मठ के सब कार्यों का भार व्यवस्थित रूप से सबके बीच बाँटा नहीं जा सका था। इस कारण स्वामी निर्भयानन्द को काफी कार्य करने पड़ते थे। अत: उनके भी मन में आता था कि यदि अपने कार्यों में से कुछ-कुछ कार्य यदि नवीन साधुओं को दे सकें, तो थोड़ा अवकाश मिल सकता है। इसी कारण एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "जहाँ से 'इंडियन मिरर' आता है, मैं वह स्थान तुम्हें दिखा दूँगा; तुम प्रतिदिन जाकर अखबार ले आना। मैं भी उसे बड़ा सहज कार्य समझ कर और यह सोचकर कि इससे एक व्यक्ति के कार्य का बोझ थोड़ा हल्का होगा, आसानी से राजी हो गया। एक दिन

दोपहर के भोजन के बाद थोड़ा विश्राम हो जाने पर निर्भयानन्द ने मुझसे कहा, ''चल, तुझे वह विधवाश्रम दिखा दूँ।'' मैं भी उनके साथ जाने को तैयार था, तभी स्वामीजी ने मुझे देखकर कहा, 'आ, वेदान्त का पाठ किया जाय।'' मेरे बताने पर कि मैं अमुक कार्य के लिये जा रहा हूँ, वे कुछ बोले नहीं। मैं कन्हाई महाराज के साथ जाकर वह स्थान देख आया। लौटने के बाद अपने एक ब्रह्मचारी बन्धु से सुनने में आया कि मेरे जाने के थोड़ी देर बाद स्वामीजी किसी अन्य से कह रहे थे, ''लड़का कहाँ गया? कहीं महिलाओं को देखने तो नहीं गया?'' यह बात सुनते ही मैंने कन्हाई महाराज से कहा, ''भाई, जगह तो देख आया, परन्तु अखबार लाने के लिये मेरा वहाँ जाना सम्भव नहीं हो सकेगा।''

इससे पता चलता है कि शिष्यों के, विशेषत: नवीन ब्रह्मचारियों के चरित्र की रक्षा के विषय में स्वामीजी विशेष सावधान थे। कोई साधु-ब्रह्मचारी बिना किसी विशेष कार्य के कोलकाता में रहे या रात बिताये – यह उन्हें बिल्कुल पसन्द न था; विशेषकर ऐसे स्थान पर, जहाँ स्त्रियों के सम्पर्क में आना पड़े। मैं इसके सैकड़ों उदाहरण देख चुका हूँ।

स्वामीजी जिस दिन मठ से अल्मोड़ा के लिये रवाना हो रहे थे, उस दिन सीढ़ी के पास बरामदे में खड़े होकर उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक नये ब्रह्मचारियों को ब्रह्मचर्य के बारे में जो बातें कहीं, वे अब भी मेरे कानों में गूँज रही हैं –

''देखो बच्चो, ब्रह्मचर्य के बिना कुछ भी न होगा। धर्म-जीवन में कुछ उपलब्धि करनी हो, तो उसमें ब्रह्मचर्य ही एकमात्र सहायक है। तुम लोग स्त्रियों के संस्पर्श में बिल्कुल भी न आना। मैं तुम लोगों को स्त्रियों से घृणा करने को नहीं कहता; वे तो साक्षात् भगवती-स्वरूपा हैं; परन्तु अपने को बचाने के लिये तुम लोगों को उनसे दूर रहने के लिये कहता हूँ। तुम लोगों ने मेरे व्याख्यानों में पढ़ा होगा, मैंने कई जगह कहा है कि संसार में रहकर भी धर्म होता है, परन्तु इससे यह न समझ लेना कि मेरे मतानुसार ब्रह्मचर्य या संन्यास धर्म-जीवन के लिये अत्यावश्यक नहीं है। क्या करता, उन व्याख्यानों को सुननेवाले सभी संसारी थे, गृही थे – उनके सामने यदि सीधे पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात कहने लगता, तो अगले दिन से कोई भी मेरा व्याख्यान सुनने नहीं आता। ऐसे लोगों के लिये थोड़ी छूट दी जाती है, ताकि वे क्रमश: पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर आकृष्ट हो सकें, इसीलिये मैंने उस प्रकार के व्याख्यान दिये थे। पर अपने दिल की बात तुम लोगों से कहता हूँ – ब्रह्मचर्य के बिना जरा भी धर्मलाभ न होगा। तुम लोग तन, मन और वाणी से ब्रह्मचर्य का पालन करना।''

* * *

एक दिन विदेश से एक पत्र आया। उसे पढ़कर उसी प्रसंग में स्वामीजी बताने लगे कि धर्म-प्रचारक में कौन-कौन से गुण रहने पर वह सफल हो सकेगा। अपने शरीर के विभिन्न अंगों की ओर इंगित करके वे कहने लगे कि धर्म-प्रचारक के लिये ये-ये अंग खुले रहने आवश्यक हैं और ये-ये अंग बन्द। उसका सिर, हृदय तथा मुख खुले रहने चाहिये – उसे प्रबल मेधावी, हृदयवान् तथा वाग्मी होना चाहिये; और उसके अधोदेश के अंगों के कार्य बन्द होंगे – वह पूर्ण ब्रह्मचारी होगा। एक प्रचारक का उल्लेख करके वे कहने लगे, ''उसमें अन्य सभी गुण हैं, केवल एक हृदय का अभाव है – अस्तु, क्रमश: उसका हृदय भी खुल जायेगा।''

उसी पत्र में यह भी लिखा था कि कुमारी नोबेल (भगिनी निवेदिता) इंग्लैंड से शीघ्र ही भारत के लिये रवाना होंगी। स्वामीजी उनकी खूब प्रशंसा करने लगे। बोले, ''इंग्लैंड में ऐसी पूत-चरित महानुभावा नारियाँ बहुत कम हैं। मैं यदि कल ही मर जाऊँ, तो वह मेरा कार्य चालू रखेगी।'' स्वामीजी की यह भविष्यवाणी सफल हुई थी।

* * *

स्वामीजी के पास पत्र आया है कि वेदान्त के श्रीभाष्य के अँग्रेजी अनुवादक, स्वामीजी के निर्देशानुसार चेन्नै से प्रकाशित होनेवाले विख्यात 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के प्रधान लेखक और दक्षिण के सम्मान्य प्राध्यापक श्रीयुत रंगाचार्य तीर्थ-भ्रमण हेतु शीघ्र ही कोलकाता आयेंगे। दोपहर के समय स्वामीजी मुझसे बोले, ''पत्र लिखने का कागज तथा कलम लाकर जरा लिख तो; और थोड़ा पीने के लिये पानी भी लेता आ।'' मैंने एक गिलास पानी लाकर स्वामीजी को दिया और डरते हुए धीरे से बोला, ''मेरे हाथ की लिखावट उतनी अच्छी नहीं है।'' मैंने सोचा था कि शायद यूरोप या अमेरिका के लिये कोई पत्र लिखना होगा। स्वामीजी बोले, ''कोई बात नहीं, लिख, यह विदेश के लिये पत्र नहीं है।'' मैं कागज-कलम लेकर पत्र लिखने बैठा। स्वामीजी अँग्रेजी में बोलकर लिखाने लगे, मैं लिखने लगा। उस दिन उन्होंने एक पत्र प्राध्यापक रंगाचार्य को लिखवाया और दूसरा किसी अन्य को, ठीक स्मरण नहीं किसको। मुझे याद है – रंगाचार्य को अन्य बातों के साथ उन्होंने यह बात भी लिखायी थी – ''बंगाल में वेदान्त की उतनी चर्चा नहीं है, अत: जब आप कोलकाता आ रहे हैं, तो कोलकाता-वासियों को भी जरा हिलाकर जाइये।'' बंगाल में वेदान्त की चर्चा बढ़े, बंगाल के लोगों में थोड़ी चेतना आये, इसके लिये स्वामीजी कितना प्रयास करते थे ! स्वामीजी का स्वास्थ्य बिगड़ जाने से और चिकित्सकों के साग्रह अनुरोध के कारण उन्होंने कोलकाता में केवल दो व्याख्यान देकर व्याख्यान देना बन्द कर दिया था; परन्तु वे जब भी सुविधा पाते, कोलकाता-वासियों में धर्म-भावना जाग्रत करने का प्रयास करते। स्वामीजी के इस पत्र के फलस्वरूप ही इसके कुछ दिनों बाद कोलकाता-वासियों को

स्टार थियेटर के मंच से उक्त विद्वान् प्राध्यापक का 'द प्रीस्ट ऐण्ड द प्राफेट' (पुजारी और धर्माचार्य) विषयक एक सारगर्भित व्याख्यान सुनने का सौभाग्य मिला था।

* * *

इसी समय, एक बंगाली युवक मठ में आया और उसने वहाँ साधु होकर रहने की इच्छा व्यक्त की। स्वामीजी तथा मठ के अन्य साधु उसके चरित्र से पहले से ही भलीभाँति परिचित थे। उसे आश्रमवासी होने के अनुपयुक्त समझकर कोई भी उसे मठ में रखने के पक्ष में नहीं था। पर उसके बारम्बार प्रार्थना करने पर स्वामीजी ने उससे कहा, "मठ में जितने भी साधु हैं, उन सब का यदि मत हो, तो तुम्हें रख सकता हूँ।" यह कहकर उन्होंने मठ के वरिष्ठ साधुओं को बुलवाकर पूछा, "इसको मठ में रखने के बारे में तुम लोगों का क्या मत है?" इस पर सभी ने एक मत से उसे रखने में असहमति व्यक्त किया। अत: उसे मठ में नहीं रखा गया।

* * *

एक दिन अपराह्न में मठ के बरामदे में स्वामीजी हम सभी को लेकर वेदान्त पढ़ाने बैठे। संध्या होने ही वाली थी। कुछ काल पूर्व स्वामीजी ने स्वामी रामकृष्णानन्द को प्रचार-कार्य हेतु चेन्नै भेजा था। इसलिये उन दिनों मठ की पूजा-आरती आदि का उत्तरदायित्व उनके एक अन्य गुरुभ्राता स्वामी प्रेमानन्द सँभालते थे। जो लोग आरती आदि में उनकी सहायता करते थे, उन्हें भी लेकर स्वामीजी वेदान्त पढ़ाने बैठे थे। उसी समय वे गुरुभ्राता आकर नवीन संन्यासी-ब्रह्मचारियों से कहने लगे, "चलो चलो, आरती करनी होगी, चलो।" तब एक ओर स्वामीजी के आदेश पर सभी वेदान्त पढ़ने में लगे हुए थे और दूसरी ओर इनके आदेश से ठाकुरजी की आरती में सहयोग देना होगा – इस पर नवीन साधु लोग थोड़े असमंजस में पड़ गये। तब स्वामीजी थोड़े उत्तेजित होकर अपने उन गुरुभ्राता को सम्बोधित करके कहने लगे, "यह जो वेदान्त पढ़ा जा रहा था, यह क्या ठाकुर की पूजा नहीं है? केवल एक चित्र के सामने जलती हुई बत्ती घुमाना और घण्टे बजाना, क्या केवल इसी को तुम लोग भगवान की आराधना समझते हो ! तुम्हारी बुद्धि बड़ी क्षुद्र है।" यह सब कहते-कहते वेदान्त के अध्ययन में बाधा पहुँचाने के कारण स्वामीजी और भी उत्तेजित होकर और भी कड़ी बातें कहने लगे। इसके फलस्वरूप वेदान्त-पाठ बन्द हो गया और थोड़ी देर बाद आरती भी समाप्त हो गयी। परन्तु आरती के बाद वे गुरुभ्राता कहीं दिख नहीं रहे थे। तब स्वामीजी अत्यन्त व्याकुल होकर बारम्बार कहने लगे – "वह कहाँ गया? कहीं वह मेरी डाँट सुनकर गंगा में तो नहीं कूद गया?" इस प्रकार बोलते हुए उन्होंने सबको उन्हें चारों ओर ढूँढ़ने के लिये भेजा। काफी देर बाद उन्हें मठ की छत पर चिन्तित भाव से बैठे देखकर उन्हें स्वामीजी के पास लाया गया। उस समय स्वामीजी के भाव में पूर्ण परिवर्तन दीख पड़ा। उन्होंने उनके प्रति खूब स्नेह जताया और बहुत-सी मधुर बातें कहने लगे। अपने गुरुभाई के प्रति स्वामीजी का यह अपूर्व प्रेम देखकर हम लोग मुग्ध हो गये। तब हम लोगों ने समझा कि स्वामीजी का अपने गुरुभाइयों पर अगाध विश्वास और प्रेम है। उनकी विशेष चेष्टा रहती थी कि वे लोग अपनी निष्ठा को बनाये रखकर अधिकाधिक उदार हो सकें। बाद में स्वामीजी के ही श्रीमुख से अनेकों बार सुना है कि जो स्वामीजी का विशेष स्नेहपात्र होता था, उसी को वे अधिक डाँट-फटकार सुनाते थे।

* * *

एक बार बरामदे में टहलते हुए उन्होंने मुझसे कहा था, "देख, मठ की एक डायरी रखना और प्रत्येक सप्ताह मठ की एक रिपोर्ट भेजना।" स्वामीजी के इस आदेश का पालन हुआ था। वह छोटी डायरी अब भी मठ में सुरक्षित है।

❑❑❑

## विवेकानन्द उवाच

वेदान्त की पहली बात है – संसार दु:खमय है, शोक का आगार है, अनित्य है। वेदान्त के पन्ने खोलते ही लोग 'दु:ख-दु:ख' देखकर बेचैन हो उठते हैं, पर उसके अन्त में परम सुख – सच्चे सुख की बात मिलती है। हम नहीं मानते कि इस विषय-जगत् से, इन्द्रिय-जगत् से सुख मिल सकता है; और कहते हैं कि इन्द्रियातीत वस्तु में ही सच्चा सुख है। यह सुख, यह आनन्द हर मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है। हम लोग जगत् में जो 'सुखवाद' देखते हैं, जो मत यह कहता है कि यह जगत् परम सुखमय स्थान है, वह मनुष्य को इन्द्रिय-परायण बनाकर सर्वनाश की ओर ले जाता है।

ज्ञानी कहते हैं – संसार का त्याग करना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्री-पुत्रों-स्वजनों को छोड़कर जंगल में चले जाना होगा। संसार में अनासक्त होकर रहना ही सच्चा त्याग है।

ज्ञानप्राप्ति हो जाने पर साम्प्रदायिकता नहीं रह जाती; इस कारण ज्ञानी क्या सम्प्रदाय से घृणा करेंगे? नहीं। जैसे सभी नदियाँ जाकर समुद्र में गिरती हैं और उसके साथ एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार सभी सम्प्रदायों – सभी मतों द्वारा ज्ञानलाभ होता है, उसके बाद कोई मतभेद नहीं रह जाता।

# मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

*डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर*

## १३४. सुख-दुःख का मिलन ही जीवन है

एक दिन निजामुद्दीन औलिया के पास एक व्यक्ति आया और उसने निराशा भरे शब्दों में कहा, "मैं पहले बहुत सुखी था, लेकिन कुछ दिनों से एक के बाद एक मुसीबतें आ रहीं हैं। ईश्वर को जब 'परमपिता' 'दयानिधान, 'दीनदयाल' कहा जाता है, तो उसे भी अपने बच्चों को सुख देकर खुशहाल देखना चाहिये, दुखी और हताश नहीं।" निजामुद्दीन बोले, "अभी मुझे शीघ्र ही नदी पार कर एक गाँव में जाना है। तुम भी मेरे साथ चलो। हम वहीं बातें करेंगे।"

नदी के किनारे उन्हें एक नाव दिखी। वे उसमें जाकर बैठ गये। औलिया ने हाथ में एक चप्पू लेकर उसे खेना चाहा, पर वह गोल-गोल घूमने लगी। काफी कोशिश करने के बाद भी वह बिल्कुल आगे नहीं बढ़ी। वह व्यक्ति बोला, "इस तरह एक चप्पू से नाव नहीं चल सकती। दूसरे चप्पू के बिना हम नदी कभी पार कर सकेंगे।" औलिया ने कहा, "बस, यहीं तुम्हारे सवाल का जवाब है। जीवन रूपी मंजिल को पाने के लिये संसार रूपी नाव का साहरा लेना पड़ता है। सुख और दुःख ये दो चप्पू हैं और नाव को खेने के लिये दोनों का होना जरूरी है। प्रकृति ने हमें दिन ही नहीं रात भी दी है। प्रकाश के साथ-साथ अँधेरे की भी व्यवस्था की है। जैसे इन दोनों का होना जरूरी है, वैसे ही सुख और दुःख – दोनों का होना आवश्यक है। अगर केवल सुख या दुःख ही दिया जाय, तो हमारे लिये यह जीवन बोझिल हो जायेगा। अति सुख या अति दुःख – दोनों ही पीड़ादायक हैं।"

सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, राग-द्वैष, स्तुति-निन्दा, शान्ति-अशान्ति ये हमारे मन के घात-प्रतिघात से उत्पन्न होते हैं। इस द्वन्द्व का नाम ही संसार है। सुख की अनुभूति में कमी होना दुःख है और दुःख की अनुभूति में कमी होना सुख है। सुखमय जीवन रूपी वस्त्र में दुःख के धागे होना जरूरी है।

## १३५. क्षमा बड़न को चाहिये

एक बार ऋषियों में विवाद छिड़ा कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव में कौन सर्वश्रेष्ठ है। सहमति न होने पर निर्णय का का दायित्व भृगु मुनि को सौपा गया। मुनि पहले ब्रह्माजी के पास गये और उनकी निन्दा शुरू की। इससे उन्हें क्रोध आया और वे शाप देने को तैयार हुए। मुनि वहाँ से लौटकर शंकरजी के पास पहुँचे। उन्हें भला-बुरा कहने पर जब उन्होंने रौद्ररूप धारण किया, तो वे विष्णुलोक जा पहुँचे। उस समय देवी लक्ष्मी निद्रित शेषशायी भगवान के पाँव दबा रही थीं। मुनि ने भगवान विष्णु से कहा, "लक्ष्मीजी से पाँव दबवाने में आपको जरा भी लज्जा नहीं आती?" विष्णु ने मुनि की ओर दृष्टिपात् भर किया। उनकी ओर से कोई भी प्रतिक्रिया न देख मुनि ने उनके सीने पर चरण-प्रहार किया। इसका भी विष्णु पर कोई असर नहीं हुआ, बल्कि उन्होंने ही मुनि से कहा, "आपके पैरों को चोट तो नहीं लगी। इससे मुनि को आत्मग्लानि हुई और उन्होंने भगवान को सब कुछ बताकर कहा, "सचमुच, आप ही सभी देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं।"

किसी व्यक्ति द्वारा अपमान या अनिष्ट किये जाने पर क्रोध नहीं करना चाहिये और न ही मन में बदला लेने का भाव आना चाहिये। प्रतिकार का एकमात्र उपाय क्षमा है। क्षमा बहिरंग नहीं, अन्तरंग होना चाहिये। क्षमा से मन में निर्मलता आती है और एक भिन्न प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है।

## १३६. अंतर्जामी सब लखे

एक बार शिरड़ी के ग्रामप्रधान रामचन्द्र दादा बड़े बीमार हुये। अपना अन्तिम समय निकट आया देख, वे साईं बाबा के पास गये और बोले कि अब वे ज्यादा दिन जीवित नहीं रहेंगे, इसलिये उनके दर्शन के लिये आये हैं। सुनकर बाबा ने मुस्कराकर कहा, "अरे बुद्धू, तू इतनी जल्दी नहीं मरेगा। लेकिन हाँ, इस वर्ष के दशहरे का दिन तुम्हारे चाचा गणपत पाटील के लिये अवश्य अशुभ हो सकता है, उन्हें तू अवश्य सचेत करना।" बाबा से भेंट के बाद रामचन्द्र की तबीयत सुधरने लगी और वे पूर्ववत् घूमने-फिरने लगे।

दशहरे के दिन सचमुच ही गणपत पाटील की तबियत बिगड़ गई। वैद्य से उनकी चिकित्सा जारी थी। उस दिन भी उसे बुलाया गया। उसने दवा देते हुये कहा कि सचमुच ही यह इनकी अन्तिम घड़ी है। कोई दैवी चमत्कार ही उन्हें बचा सकता है। मगर रामचन्द्र पाटील यह देख चकित रह गये कि दवा ने असर किया और उनकी मृत्यु टल गई। फिर उन्हें यह समाचार मिला कि उसी दिन साईं बाबा निजधाम को गये, तो वे सोचने लगे कि बाबा ने गणपत तात्या के जाने की अन्तिम तिथि बताकर कहीं अपने जीवन के अन्तिम दिन का पूर्व संकेत तो नहीं दिया था। साईं चरित्रकार ने एक गीत में इस घटना का उल्लेख किया है। ❑❑❑

# मानसिक स्वास्थ्य के सूत्र

***डॉ. प्रकाश नारायण शुक्ल,*** *(M.D.)*

***मनोचिकित्सक, रायपुर (छ.ग.)***

(विवेकानन्द विद्यापीठ रायपुर में आयोजित एक राष्ट्रीय संगोष्ठी में डॉ. शुक्ल ने इस प्रबन्ध का पाठ किया था। आम आदमी के लिये मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि में इसकी उपयोगिता को देखते हुए, इसे 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

१७वीं सदी ............... जागृति का युग।
१८वीं सदी ............... बुद्धि या युक्ति का युग।
१९वीं सदी ............... प्रगति का युग।
२०वीं सदी ............... तनाव और चिन्ता का युग।
२१वीं सदी ............... उन्माद का युग।

हमारे देश की जनता को मानसिक रोगों के बारे में ठीक-ठीक जानकारी नहीं है। इस विषय में जागरूकता का अभाव केवल कम पढ़े-लिखे या ग्रामीण क्षेत्रों में रहनेवालों में ही नहीं, महानगर-वासियों तथा शिक्षितों में भी इसका अभाव दीख पड़ता है। बहुधा मानसिक रोगों को गम्भीरता से न लेकर, उसे हँसी-मजाक में टाल दिया जाता है।

संचार माध्यमों में इस विषय में कुछ जागरूकता दिखाई तो देती है, परन्तु इनके द्वारा भी मानसिक रोगों को अतिरंजित करके दिखाया जाता है, इसीलिये जन-साधारण में मानसिक रोगों के प्रति अकारण भय व्याप्त है। गोस्वामी तुलसीदास जी तो कहते हैं कि सभी मनुष्य मानस-रोगों से ग्रस्त हैं –

**एहि बिधि सकल जीव जग रोगी,**
**शोक हरष भय प्रीति बियोगी ।।**
**मानस रोग कछुक मैं गाए,**
**हँहि सबके लखि बिरलन्ह पाए ।।**

शारीरिक रोगियों की तुलना में मानस-रोगियों की संख्या कहीं अधिक है। शारीरिक रोगों के समान ही मानसिक रोग भी सबको होते हैं, परन्तु कुछ बिरले व्यक्ति ही अपने मन के दोषों को देख और समझ पाते हैं। गोस्वामीजी ने मानसिक और शारीरिक-रोगों की तुलना करके बताया है कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिनके अन्तर्मन में मानस-रोग के बीज न हों। फिर दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शरीर में कोई रोग होने पर व्यक्ति को प्राय: उसका पता चल जाता है, पर विडम्बना यह है कि मानसिक रोगी बहुधा अपने रोग को पहचान ही नहीं पाता। इसीलिये गोस्वामीजी ने लिखा है – मानस रोग सभी को हैं, पर बिरला व्यक्ति ही उन्हें देख पाता है। जिन्हें हम नॉर्मल या सामान्य कहते हैं, उसका अर्थ यह है कि वह नॉर्मल पागलपन है – अर्थात् बाकी सब उतने ही असामान्य हैं, तो हम उन्हें अपने समकक्ष मान लेते हैं, पागल नहीं।

कुछ मानसिक रोगों की जड़ें समाज की कुरीतियों तथा कुप्रथाओं में हैं। समाज की रुग्णता के कारण ही मनश्चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है। मनोरोग इस बात के द्योतक हैं कि मानव समाज अब भी पूरी तरह सभ्य नहीं हुआ है। मनोरोग किसी भी समाज की सभ्यता का सबसे बड़ा पैमाना या मापदण्ड है। समाज जितना सभ्य और सुसंस्कृत होगा, मनोरोग उतने ही कम होंगे। इसी प्रकार मनोरोग के साथ अन्धविश्वास या कलंक का जुड़ जाना भी न केवल हमारी अज्ञानता का द्योतक है, बल्कि असभ्यता का भी प्रतीक है।

स्मरण रहें, पशु पागल नहीं होता, क्योंकि वह सरल, शुद्ध तथा निर्द्वन्द्व है। वह स्वयं में तृप्त है। उसके जीवन में कोई मानसिक संघर्ष नहीं है। उसके पास रूपान्तरित करने के लिये कुछ नहीं है। उसके पास अतिक्रमण करने के लिये समस्यायें नहीं हैं। उसमें मानव के समान चेतना ही नहीं है।

कोई पशु झूठ नहीं बोल सकता, ढोंग नहीं कर सकता। ऐसा इसलिये नहीं कि वह सभ्य या सुसंस्कृत है या नियम-कानून का पालन करता है। वह झूठ इसलिये नहीं बोल सकता, क्योंकि उसे यह पता ही नहीं है कि झूठ भी बोला जा सकता है, बेइमानी भी की जा सकती है या ढोंग भी रचा जा सकता है। इसलिये वह पशु-का-पशु ही रह जाता है।

पशु सच्चा एवं ईमानदार होने को बाध्य है। यह उसका चुनाव नहीं, विवशता है। इसके सिवा उसके पास अन्य कोई विकल्प नहीं। वह वही हो सकता है, जैसा उसे प्रकृति ने बनाया है। उसे गलत सम्भावनाओं का बोध नहीं है। इसी कारण पशु-समाज में कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ नहीं हैं। हजारों वर्षों पहले उनका समाज जैसा था, आज भी वैसा ही है।

मनुष्य को इन सम्भावनाओं का बोध होता है। इसीलिये मनुष्य झूठ बोल सकता है, बेइमानी कर सकता है, ढोंग कर सकता है। दूसरी ओर मनुष्य नर से नारायण भी हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है कि दीवाल कभी झूठ नहीं बोलती, गाय कभी झूठ नहीं बोलती, किन्तु दीवाल दीवाल ही रह जाती है, गाय गाय ही रह जाती है। मनुष्य झूठ बोलता है, तो वह सच भी बोल सकता है, इस प्रकार वह नर से नारायण हो सकता है।

मानव-समाज परिवर्तनशील है। सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ

भी परिवर्तनशील होती हैं। इसीलिये मानव समाज में प्रथाएँ तथा रीति-रिवाज भी बदलते रहते हैं। इस परिवर्तन के साथ ही अनेक कठिनाइयाँ और चिन्ताएँ भी आती हैं। ये कठिनाइयाँ ही उसे तनावग्रस्त कर देती हैं। इसके फलस्वरूप नाना प्रकार के मनोरोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग हमारी आध्यात्मिक, चारित्रिक एवं शारीरिक दुर्बलता के प्रतीक हैं। अत: यह एक गहन, गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण विषय है।

कहीं एक चुटकुला सुना था – डार्विन जब तक जीवित था, मनुष्य उसे परेशान करते रहे। इसका कारण यह था कि उसके मतानुसार मनुष्य का विकास बन्दरों से हुआ है अर्थात् बन्दर का विकास ही मनुष्य है। परन्तु मनुष्य स्वयं को मनु या आदम की सन्तान मानता है, इसलिये लोग उस पर नाराज हुए और उसके सिद्धान्त का विरोध किया।

डार्विन ने सोचा – खैर, कम-से-कम बन्दर तो मुझसे बहुत प्रसन्न होंगे कि मैंने उन्हें मनुष्यों का पूर्वज सिद्ध कर दिया। परन्तु डार्विन के मरने के बाद बन्दरों की प्रेतात्माओं ने उन्हें घेर लिया और कहा – तुमने हमारे साथ घोर अन्याय और हमारा घोर अपमान किया है, तुमने मनुष्य को हमारा विकास कहा है! मनुष्य तो हमारा पतन है। भटके हुये बन्दर ही मनुष्य हो गये हैं। अपने सिद्धान्त में सुधार कर लो। डार्विन बोले – कहना तो मैं भी यही चाहता था, मगर विकास बताने पर जब मनुष्यों ने इतना परेशान किया, तो यदि उसे बन्दरों का पतन बताता तो कितनी मुसीबत में फँस जाता! पता नहीं मेरा क्या हाल होता!

मनुष्य की समस्या गम्भीर है। मनुष्य ने समाज बनाने की कोशिश की थी, परन्तु उसकी जगह बन गया एक चिड़ियाघर। चिड़ियाघर के पशुओं में और वन-जंगलों में स्वच्छन्द विचरने वाले पशुओं में बड़ा अन्तर होता है। मनुष्य को अपने समाज में वही करना पड़ता है, जो सर्कस या चिड़ियाघर के पशु करते हैं। मनुष्य ने स्वतंत्रता खो दी है। कोई पशु आत्महत्या नहीं करता। कोई भी पशु कभी ऊबता नहीं, बोरियत महसूस नहीं करता। ऊबने के लिये विचार चाहिये। जो जितना विचारवान है उतना ही ऊबेगा, उतना ही तनावग्रस्त होगा।

अरस्तू ने कहा था – Man is a rational animal. (मनुष्य एक बुद्धियुक्त पशु है)। डार्विन के विकासवाद की दृष्टि से देखें तो मनुष्य पशुओं का एक विकास है। परन्तु यदि अध्यात्म की दृष्टि से देखें, तो मनुष्य एक रोग है – Disease – एक तनाव है। पाश्चात्य दार्शनिक सात्र ने कहा है – Man is condemned to be anxiety ridden. (मनुष्य तनावग्रस्त होने के लिये अभिशप्त है।) मनुष्य होने का अर्थ ही है तनावग्रस्त होना। ऐसा मनुष्य मिलना कठिन है, जो तनावग्रस्त न हो। शारीरिक रोग सभी को नहीं होते, परन्तु मानसिक रोग से सभी ग्रस्त हैं। कोई भी अपवाद नहीं है, पर बिरले ही आत्मनिरीक्षण के द्वारा अपने दोष देख पाते हैं।

मनोरोग के कारण स्वयं हमारे द्वारा ही निर्मित हुए हैं। हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा समाज, हर प्रकार के मनोरोग को जन्म देने के मूलभूत कारण हैं। मनुष्य को हमने जैसा बनाने की चेष्टा की है, उसी से उसमें मनोरोग उत्पन्न हुए हैं। कुछ व्यक्ति ही नहीं पूरी मानव-जाति ही विक्षिप्त हो उठी है। आपस में भेद है, तो बस परिमाण का – कोई कम तो कोई अधिक, परन्तु तनावग्रस्त सभी हैं।

बड़ी हैरानी की बात यह है कि बड़े-बड़े चित्रकार, संगीतकार, कवि और लेखक भी पागल होते देखे जाते हैं। रिक्शा चलानेवाले, सब्जी बेचनेवाले आदि प्राय: पागल नहीं होते। चिन्तनशील, विचारशील और संवेदनशील लोग अक्सर रुग्ण और विक्षिप्त हो जाते हैं। हम उनमें ही कमी या दोष देखने का प्रयास करने लग जाते हैं, पर बात ऐसी नहीं है।

दोष है हमारी सामाजिक व्यवस्था का, जिसमें हमारी शिक्षा-प्रणाली, सामाजिक-प्रथाएँ, संस्कार-प्रणाली मनुष्य को रुग्ण बनाने का काम करती है। मनुष्य को सतत् अस्वाभाविक बनाने की चेष्टा की गयी है। उससे असम्भव आदर्शों की अपेक्षा की गई है। हमारी अपेक्षायें ही हमें पागल बनाती हैं।

हम सोचते हैं कि मनुष्य ईश्वर का पुत्र है और वह ईश्वर के समान हो जाये। समाज हमें एक ऐसी व्यवस्था देता है, जिसमें हमारे व्यक्तित्व का एक भाग ही अभिव्यक्त होने दिया जाता है, शेष सभी को दबा दिया जाता है। भीतर सब कुछ बिखरने लगता है, टूटने लगता है। हम अपने भीतर के जिन भावों को दबाते हैं, वे अभिव्यक्त होने के लिये संघर्ष करने लगते हैं। इसी से तनाव की सृष्टि हो जाती है।

तनाव का एक ही अर्थ होता है कि हम ऐसा कुछ करना चाहते हैं, जो हमारी सामर्थ्य के बाहर है, हम असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं। उसे हम पा नहीं सकते, परन्तु छोड़ भी नहीं सकते, क्योंकि समाज ने हमें यही सिखाया है कि उसे पाना ही है, असम्भव को सम्भव बनाना है, चाहे हम टूट ही क्यों न जाये। व्यक्ति दुविधा या मानसिक संघर्ष में फँस जाता है। राजसिक तथा तामसिक – दोनों ही तरह के कर्म तनाव का कारण बनते हैं। गीता में लिखा है –

**यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।**
**क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।। १८/२४**
**अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।**
**मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसम् उच्यते।। १८/२५**

– जिस कर्म में बहुत श्रम लगता है तथा किसी अहंकारी व्यक्ति के द्वारा फल की आसक्ति के कारण किया जाता है, उसे राजस् कर्म कहा गया है। और जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा तथा सामर्थ्य को न विचारकर, केवल अज्ञान के कारण किया जाता है, वह कर्म तामस कहा गया है।

मनुष्य जैसा है, उसे उसी रूप में स्वीकारना होगा। उस पर कुछ आरोपित न किया जाय, थोपा न जाये – जब हम उस पर कुछ थोपते हैं कि उसे ऐसा-ऐसा होना चाहिये, तो वहीं से मानसिक तनाव के प्रवेश की सम्भावना बढ़ जाती है।

काम भी सृष्टि-तत्त्व की एक अपरिहार्य प्रक्रिया है और सामाजिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। एक साधारण व्यक्ति के जीवन में भावुकता तथा काम का सम्मिश्रण विद्यमान रहता है। इस मिश्रण में से कोरी भावुकता को अलग करना मानसिक स्वास्थ्य के लिये परम आवश्यक है। यदि हम साधारण व्यक्ति को बताते हैं कि काम दोष है, पाप है; और उसे विशुद्ध तथा आदर्श प्रेम की शिक्षा देने लगते हैं, तो इससे उसमें मानसिक विकृति प्रारम्भ हो जाती है। यह शिक्षा बाद में व्यक्ति को पाप या अपराध-भावना से जोड़कर उसे पागल बना देती है।

धूर्त और चालाक किस्म के लोग ऊपर से तो यह शिक्षा स्वीकार करते दिख पड़ते हैं कि शुद्ध प्रेम को काम-भावना से अलग होना चाहिये, पर वे मन-ही-मन इस मिश्रण में ही रस लेते रहते हैं। ऐसे धूर्त लोग पूरे पाखण्डी हो जाते हैं और पाखण्ड एक बहुत बड़ा मानसिक रोग है, जो क्रमशः व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का नाश कर देता है।

साधारण व्यक्ति काँटों को दूर करने की कला जाने बिना ही हठपूर्वक भावुकता के गुलाबों को पाने हेतु प्रयास करता रहता है और इसके फलस्वरूप पागल होकर टूट जाता है। दूसरी ओर पाखण्डी व्यक्ति – झूठा तथा अप्रामाणिक जीवन बिताने की चेष्टा में अपना पूरा व्यक्तित्व नष्ट कर डालता है।

कवि रहीम ने एक दोहे के माध्यम से मनुष्य के मन के इस विकट अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है –

**अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।**
**साँचे में तो जग नहीं, झूठे मिले न राम।।**

असामान्य व्यवहार वह है, जो सामान्य से अलग या हटकर। हर व्यक्ति यही सोचता है कि वह सामान्य है। पागल भी कहता है कि वह ठीक है, शेष सभी पागल हैं। सभी कहते हैं कि उसका व्यवहार दूसरों से अधिक अच्छा है। परन्तु क्या कोई-भी व्यक्ति सामान्य बनना चाहता है? प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से अलग दिखना चाहता है।

असामान्य के दो अर्थ हो सकते हैं। सामान्य से ऊँचा उठना अथवा सामान्य से नीचे गिरना। साधारणतया असामान्य व्यवहार का अर्थ पागलपन ही लिया जाता है।

## मनोरोगों के बारे में कुछ मिथ्या धारणाएँ

मानसिक रोगों के बारे में जानकारी तथा जागरूकता का काफी अभाव है। मानसिक रोगों के प्रति अज्ञानता, अनभिज्ञता, अन्धविश्वास तथा भय – मानसिक रोगों को रहस्यमय बना देते हैं। असामान्य व्यवहार बहुधा विचित्र होता है। मनोरोगियों द्वारा किये अपराध को संचार-माध्यमों पर बार-बार दिखाया जाता है और मनोरोगियों का जो चित्रण किया जाता है, वह भयभीत कर देनेवाला होता है, इसीलिये लोग मनोरोगियों से डरते हैं। यह भी एक भूल धारणा है कि मनो-चिकित्सालयों में सभी रोगी असामान्य व्यवहार करते रहते हैं।

मुश्किल से आधे से एक प्रतिशत मानसिक रोगी ही खतरनाक होते हैं। सामान्य लोगों की तुलना में मानसिक रोगियों के द्वारा अपराध कम किये जाते हैं।

अस्पताल में मनोरोगी सहज सामान्य हो जाते हैं, क्योंकि वहाँ का वातावरण पूरी तरह से नियंत्रित होता है।

एक कर्त्तव्यनिष्ठ कर्मचारी का सहसा काम पर न आना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से असामान्य व्यवहार माना जायेगा।

मानसिक रोगी तथा स्वस्थ व्यक्ति के बीच स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। मानव समाज में, संस्कृतियों में और मनुष्यों में भी विविधता होती है। शास्त्रों में लिखा है –

**मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना, तुण्डे-तुण्डे सरस्वती।**
**जातौ-जातौ नवाचारः, कुण्डे-कुण्डे नवं पयः।।**

एक प्रकार का व्यवहार किसी समाज के लिये मान्य हो सकता है, परन्तु वही व्यवहार दूसरे समाज के लिये असामान्य।

## मानसिक स्वास्थ्य की परिभाषा

जो व्यक्ति सहजता तथा अपनी पूरी क्षमता के साथ अपने आसपास के लोगों तथा परिवेश के साथ स्वयं को समायोजित करने में सफल हो जाता है, वही मानसिक रूप से स्वस्थ कहा जाता है और वही आत्मसन्तुष्ट तथा प्रसन्नचित्त होगा।

एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि समाज किसी के व्यवहार को मान्यता देता है या नहीं। महत्त्वपूर्ण यह है कि समाज किसी व्यक्ति के प्रति कल्याण-भावना या उसकी मानसिक स्थिति को स्वस्थ बनाये रखने में सहायक है या नहीं? समाज तथा व्यक्ति के बीच सह-अस्तित्व की भावना होनी चाहिये।

व्यक्ति का कोई भी व्यवहार, जो उसकी उन्नति में बाधा उत्पन्न करता है, वह व्यवहार असामान्य माना जायेगा।

पश्चिम में ही आधुनिक मनोविज्ञान का विकास हुआ है। उसका इतिहास अधिक-से-अधिक डेढ़ सौ वर्षों का है। वह परिपक्व नहीं हो सका है। डॉक्टर सिग्मण्ड फ्रॉयड आधुनिक मनोविज्ञान तथा मनश्चिकित्सा के जनक माने जाते है। फ्रॉयड ने मानव मन को स्थूल रूप से ही देखा, वे मन के अतल गहराइयों तक प्रवेश नहीं कर सके।

पश्चिम में जो आज नग्नता दिखाई देती है, उसकी जड़ में फ्रॉयड का एक वक्तव्य है। किसी ने उनसे पूछा – मानसिक रूप से स्वस्थ रहने का क्या रहस्य है? फ्रॉयड ने जो उत्तर

दिया है, वह पाश्चात्य मानसिकता का द्योतक है। उन्होंने कहा कि यदि आपकी सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाय, तो न आपको कोई तनाव होगा और न कोई मानसिक रोग। बस, सभी अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लग गये। इसके परिणाम से पश्चिम में एक वर्जनाहीन समाज स्थापित हो गया। दुर्भाग्य से वह भारत में भी फैलता जा रहा है। क्या मनुष्य की सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती है? कबीरदास कह गये हैं –

**आशा तृष्णा ना मरे, कह गये दास कबीर।**

फ्रॉयड को मन के दो भागों का ही पता था – चेतन मन तथा अचेतन मन। समाधि या Super-Conciousness का उन्हें कोई ज्ञान ही नहीं था। इसीलिये पश्चिम का मनोविज्ञान मन के पार नहीं जा सका। वे अभी भी मन के पार नहीं जा पाये हैं। इसीलिये मनोरोगों का उपचार अधूरा है। फ्रॉयड मनोविश्लेषण के द्वारा हर प्रकार के मनोरोगों के उपचार का दावा करते रहे, परन्तु सफल नहीं हुये। आज मनोविश्लेषण का सिद्धान्त खोखला सिद्ध हो गया है। पिछले साठ वर्षों से उसे भुला दिया गया है।

दूसरी ओर, हमारे देश में हजारो वर्षों से चली आ रही श्रेष्ठ परम्परा को भी लोग अभी ठीक से नहीं समझ पा रहे हैं। पतंजलि का अष्टांग-योग व्यक्तित्व निर्माण के लिये सर्वाधिक अनुकूल है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे महत्त्व दिया। उन्होंने यही प्रमाणित किया कि भारतीय जीवन-शैली ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी के द्वारा सम्पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करके परम शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। फ्रॉयड दावा करते रहे कि मनोविश्लेषण के द्वारा वे व्यक्तित्व का नव-निर्माण कर सकते हैं, परन्तु वे कभी ऐसा नहीं कर पाये। अष्टांग योग के द्वारा यह सम्भव है। इसके द्वारा व्यक्तित्व में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। दु:ख की बात यह है कि हम अपने पारम्परिक एवं संस्कारगत जीवन से दूर होते जा रहे हैं। हमारे जीवन में धार्मिकता का अभाव बढ़ता जा रहा है तथा नैतिकता का क्रमश: ह्रास होता जा रहा है।

**निजत्व** – हम अपने निजत्व – अपने स्वरूप को पहचानें। गीता में कृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं –

**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। ३/३५**

अपने स्वधर्म का त्याग मत करो। गुणरहित स्वधर्म का पालन भी मनुष्य के लिये परम हितकर होता है तथा अपने स्वभाव-विरुद्ध गुणयुक्त परधर्म का पालन उसके अहित का कारण होता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिये यह बहुत जरूरी है कि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही अपने व्यक्तित्व का विकास करने की चेष्टा करे। इस विषय में हठवादिता हानिकारक हो सकती है। गीता में ही भगवान ने अर्जुन को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में निर्देश दिया है –

**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि**
**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। ३/३३**

मनुष्य में जो हीन प्रवृत्तियाँ हैं, वासनाएँ आदि हैं, क्या ये उसके स्वभाव के अंग हैं? क्या वह इन निम्न वृत्तियों के आधार पर ही अपने मानसिक स्वास्थ्य का निर्माण करे? – नहीं। गीता में ही भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मनुष्य की इन्द्रियों में जो राग-द्वेष आदि दुर्गुण हैं, उसे उनके वश में नहीं आना चाहिये, क्योंकि वे इस (मानसिक स्वास्थ्य प्राप्ति) के मार्ग के शत्रु हैं –

**इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।**
**तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।। ३/३४**

– सभी इन्द्रियों में उनके विषयों के प्रति राग और द्वेष रहता है। मनुष्य को अपनी इन्द्रियों में रहनेवाले राग और द्वेष के वश में नहीं आना चाहिये, क्योंकि वे इस कल्याण मार्ग के शत्रु हैं।

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – तेरे भीतर क्षत्रिय के संस्कार हैं, तू ब्राह्मण जैसा होने की चेष्टा मत कर। वे अर्जुन को वही बुनियादी बात समझा रहे हैं कि तेरा जो स्वधर्म है, तू जिस प्रकार का व्यक्ति है, वही हो सकता है। तू क्षत्रिय है, योद्धा है, तेरी कुशलता वीरता में है और आज तू अचानक ब्राह्मण हो जाना चाहता है, संन्यस्त हो जाना चाहता है, जो सम्भव नहीं है। हमें अपने निजत्व – स्वभाव को पहचानना होगा। हम वही हो सकते हैं – जो होने की सम्भावना हमारे भीतर प्रसुप्त है। जो हमारा स्वभाव ही नहीं है, वह हम कभी नहीं हो सकते। हम जो नहीं हैं, वह बनने का प्रयास भी हममें तनाव की सृष्टि कर देता है।

**बोए पेड़ बबूल का, आम कहाँ से होय!**

श्रीकृष्ण कहते हैं – **स्वधर्मे निधनं श्रेयः** – अपने स्वभाव के अनुसार कर्त्तव्य का पालन करते हुये मर जाना भी उत्तम है। **परधर्मो भयावहः** – दूसरे का धर्म, दूसरे के समान होने की चेष्टा भयावह है। यह मनोरोगों का कारण हो सकता है। जीवन की सहजता को चुनें। जो जीवन-शैली सहज हो, उसे चुने। विपरीत को नहीं। और उसे समग्रता से जीयें।

स्वधर्म को छोड़ना, निजता को छोड़ना, मन में अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देता है। स्वयं को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लें। हम जो हैं, उससे अन्यथा होने का कोई उपाय नहीं है। व्यक्ति स्वयं से भाग नहीं सकता। हम वही हो सकते हैं, जो हममें होने की सम्भावना है।

**देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम्।**
**ब्रह्मचर्यम् अहिंसाम् च शारीरं तप उच्यते ।।**

## पवित्रता एवं सरलता

पवित्रता अर्थात् प्रामाणिकता। भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने कहा – मन-मुख एक करो। यही पवित्रता है, यही प्रामाणिकता

है। हम जैसे हैं, वैसे ही लोगों को दिखायें। जो लोग बेईमानी करते हैं और स्वयं को ईमानदार दिखाने का प्रयास करते हैं, यह कपट है और कपट महान् अपवित्रता है।

* स्वयं का अनुभव करते ही जीवन में क्रान्ति आ जाती है। व्यक्ति और व्यक्तित्व में परिवर्तन आने लगता है। पवित्र व्यक्ति कभी बेइमानी या झूठ का आश्रय नहीं ले सकता।

* दुर्बलताओं को छिपाने का प्रयत्न करने पर सारा जीवन छिपाने, दबाने, दमन में ही समाप्त हो जाता है। इसलिये हम प्रामाणिक बने; सरल और सहज बने। इससे अनायास ही जीवन में पवित्रता आ जायेगी।

### सरल बनें

* हम बच्चों जैसे सरल बने। बच्चे में सरलता स्वाभाविक होती है। उसके मन में जो भाव आता है, वह उसी को प्रकट करता है। जैसे क्रोध में है तो क्रोध दिखायेगा, हर्ष में है तो हर्ष दिखायेगा। बच्चा परिणाम की चिन्ता नहीं करता।

* हम चालाक और धूर्त हैं। हम भीतर से क्रोधित होते हैं, परन्तु बाहर से मुस्कुराते हैं, क्योंकि सम्भव है कि क्रोध का दुष्परिणाम महँगा पड़ जाये। इस प्रकार धीरे-धीरे हम अप्रामाणिक और कपटी होते जाते हैं। भीतर कुछ और बाहर कुछ। यही जटिलता है, जो घनीभूत होती जाती है और हम दिन प्रतिदिन अधिक-से-अधिक उलझते जाते हैं।

* सरलता अर्थात् बाहर-भीतर से एक होना। जैसा कि बच्चा होता है। गीता में भगवान कृष्ण **आर्जवम्** (१६/१) को भी एक दैवी गुण बताते हैं। आर्जवम् का अर्थ होता है – शरीर-मन तथा इन्द्रियों सहित अंत:करण की सरलता। उसी प्रकार इस गुण को अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान एक अन्य शब्द **मार्दवम्** (१६/२) का भी प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ होता है – कोमलता, नम्रता, मृदुता आदि।

### सहजता

* जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण यदि तनावपूर्ण है, तो हम शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। किसी भी काम को हम सहजता से नहीं कर सकते। काम के बाद हम थक जायेंगे। ताजगी महसूस नहीं कर पायेंगे।

* खेल के बाद हम तरो-ताजा हो जाते हैं, स्फूर्ति से भर जाते हैं। खेल मन को हल्का कर देता है। ऊर्जा का व्यय होता है, पर हम स्फूर्ति से भर जाते हैं। उसका एकमात्र कारण है कि खेल में हमारी एकाग्रता बढ़ जाती है। खेल में हमारी समग्र चेतना, समग्र एकाग्रता खेल पर ही केन्द्रित हो जाती है। खेल के साथ हमारा तादात्म्य इस प्रकार प्रगाढ़ हो जाता है कि खेल के सिवाय हम सब कुछ भूल जाते हैं। दूसरी ओर कार्य में ठीक इसके विपरीत होता है। इसीलिये आज खेल भी एक काम हो गया है, व्यवसाय हो गया है; और खेल में भी आये दिन हिंसा देखने को मिलती है।

* बुद्धिमान व्यक्ति काम को भी खेल बना लेता है। इसलिये अब जो भी कर रहे हैं, इतने ध्यान से कर रहे हैं, इतनी तल्लीनता से कर रहे हैं, आनन्द में डूबकर कर रहे हैं कि फिर तनाव तिरोहित हो जाता है। उसका पता ही नहीं चलता। अब काम भी एक खेल मालूम पड़ने लगता है। काम और हम एक हो जाते हैं।

* जब शरीर और इन्द्रियाँ एक ओर भागें और मन दूसरी ओर भागे, तो तनाव निर्मित होगा ही। यही तनाव हमें शीघ्र ही थका देता है। काम को पूरी चैतन्यता के साथ करने का अभ्यास करें, तो धीरे-धीरे एकाग्रता की क्षमता विकसित होगी। अत: हमें काम को पूरी एकाग्रता एवं चैतन्यता से करने का प्रयत्न और अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्यास से हम धीरे-धीरे तनावमुक्त हो जायेंगे। तनावमुक्त होना ही स्वस्थ मन का लक्षण है। यही मानसिक स्वस्थता है।

* जिस काम को करने में तनाव होता है, वह जल्दी ही थका देगा। जिस काम में तनाव नहीं है, सहजता है, वह आपको और भी अधिक हल्का कर देगा, स्फूर्ति से भर देगा।

* परन्तु हम पूरे जीवन को काम बना लेते हैं। जो भी काम हम तनावग्रस्त होकर करेंगे, वह हमारे अस्तित्व को बौना कर देता है, हमें पंगु बना देता है, हमें जकड़ लेता है।

* प्रयास में तनाव है, आयास है। अनायास और सहज कर्म में तनाव-मुक्ति है। अत: हमें सहज और अनायास कर्म करने का प्रयत्न करना चाहिये। ***

## चालाकी छोड़ो और सच्चे मनुष्य बनो

स्वयं को ज्यादा चतुर समझना उचित नहीं। कौआ खुद को कितना चालाक समझता है ! वह कभी फन्दे में नहीं फँसता। भय की तनिक आशंका होते ही उड़ जाता है। कितनी चतुराई के साथ वह खाने की चीजें उड़ा ले जाता है ! पर इतना होते हुए भी वह विष्ठा खाकर मरता है। ज्यादा चालाकी करने का यही परिणाम होता है। जब तक मनुष्य बच्चों जैसा सरल नहीं हो जाता, तब तक उसे ज्ञानलाभ नहीं होता। सब दुनियादारी, विषयबुद्धि को भूलकर बालक जैसे नादान बन जाओ, तभी तुम ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। यथार्थ मनुष्य तो वही है, जो 'मान-होश' हो – अर्थात् जिसमें स्वाभिमान का होश हो। दूसरे लोग तो निरे 'मानुष' है। — ***श्रीरामकृष्ण***

# श्रीरामकृष्ण का चित्र : एक चिन्तन

*बेनीमाधव हरिहारनो*

काफी काल पूर्व सुविख्यात फिल्म-निर्देशक विमल राय अपनी फिल्मों में श्रीरामकृष्ण के चित्र की झलक दिखाया करते थे। बहुत पुरानी बात है। किसी फिल्म में इनकी भाव-समाधि का चित्र, मुझे दिखा, जिससे मैं बड़ा ही आकृष्ट हुआ। न जाने क्यों, वह चित्र मेरे मन में बस गया? मुझे नहीं मालूम। तब मैं उनका और उनके विश्वप्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द का नाम भी नहीं जान पाया था। फिर क्रमश: उनके साहित्य से जुड़ने का क्रम बनता गया और यह चित्र मेरे स्मृति-पटल पर ऐसा जमा कि 'रामकृष्ण' शब्द श्रवण मात्र से यही चित्र कौंध उठने लगा। यह संस्मरण लिखते हुए मैं अपने भीतर – अन्त:करण में वही चित्र देख रहा हूँ और अभिभूत भी हूँ।

### आकर्षण विशेष

चित्र में एक साधारण-सा व्यक्ति, निश्चल व भावमग्न दिखता है। उसका वक्ष भी खुला-खुला है। अर्धोन्मीलित नेत्र बाहर देख रहे हैं कि भीतर? क्या वह अलौकिक आनन्द में निमग्न हो, निश्चल हो गया है? वह साधारण व्यक्ति है या भक्त या कोई महापुरुष या कोई भगवान, समझ में नहीं आता। चित्र में, कोई पौराणिक संकेत भी नहीं। फिर भी, यह कौन-सा आकर्षण सृजित कर विकीर्ण कर रहा है, यह मेरे लिये एक अनबूझ पहेली ही है। चित्र तो एकदम सादगीपूर्ण है, पर आकर्षण से लबालब। क्यों है ऐसा?

मुझे ज्ञात हुआ कि यह भावचित्र काली-दर्शन से अपने अन्तर को तृप्त करने का, पुत्र का मातृ-मिलन का, भगवत्दर्शन-प्राप्ति-क्षण का चित्र है। इस चंचल मन और शरीर के पूर्ण तन्मयता और आत्म-चैतन्य का परात्म-चैतन्य से भेंट का विशेष चित्र है, जिससे आत्म-आभा फूटकर आध्यात्म-तेज का आकर्षण केन्द्र बनता है और अन्तर में निर्मल तेज उत्प्रेरित कर आत्मानन्द आकर्षण केन्द्र है। उसमें यह भी सन्देश निहित है कि मानव जीवन के परम-आनन्द की प्राप्ति का यही योग-क्षण है।

अन्य देव-चित्रों में दो पक्ष बनते हैं भगवान और दर्शक। दर्शक को सौन्दर्य-शृंगार दर्शन लुभाता है। तब वह सौन्दर्य दर्शन-भाव प्रगट कर कि सुन्दर है, सिमट जाता है। स्व एवं पर पक्ष, उस भगवान का नमन कराकर, अलग कर देता है। पर यह भावचित्र एकाकार होने के योग-क्षण का है, अत: वह अपने में जोड़ने वाला आकर्षण चित्र है। उसके लिये जो चुम्बक से चिपक जाने का सामीप्य भाव प्राप्त हो। मैं इस गुप्त आकर्षक से बँध गया हूँ।

### चित्र-मर्म

मैंने पढ़ा है कि जब यह भाव-चित्र बना और श्रीरामकृष्ण को दिखाया गया, तो उन्होंने उठकर उसे प्रणाम किया था। आश्चर्य से उन्हें पूछा गया कि आप अपने आप को क्यों प्रणाम कर रहे हैं? उन्होने जवाब दिया – "अरे! क्या तू अभी के मुझमें और इस चित्र के मुझमें कोई अन्तर नहीं देख पा रहा है? क्या तुम्हें नहीं दिखता कि उस चित्र के मुझमें गुप्त रूप से, काली-माता समाई हुई हैं। इस भाव-चित्र का यही मर्म है – आध्यात्मिक तेजस्विता का, महाकाली के कालतेज का। भावाञ्जलि स्वीकार हो!

❑❑❑
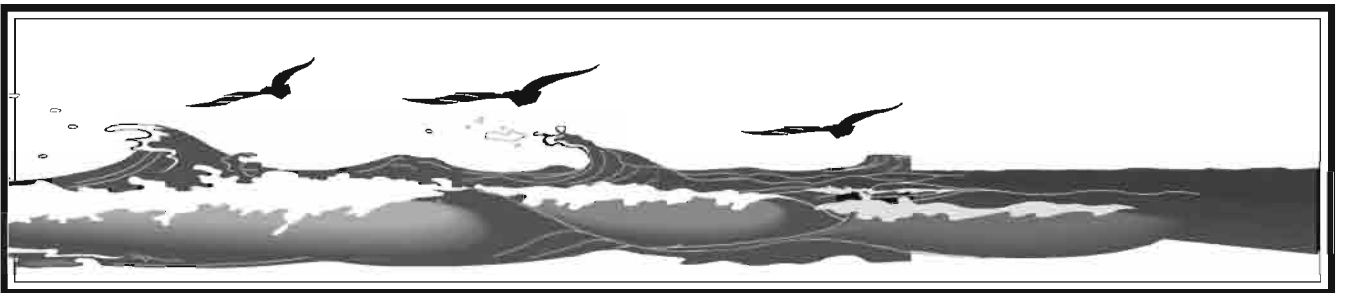
# रामकृष्ण मठ

**विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज,**
**इलाहाबाद २११००३ (उ.प्र.)**

Phone : 0532-2413369 Fax : 2415235,
E-mail : rkmathald@dataone.in

## अपील

प्रिय बन्धु,

आपको सूचित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि रामकृष्ण मठ, प्रयाग (इलाहबाद) सन् २०१० में अपने गौरवशाली १०० वर्ष पूरे करने जा रहा है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अन्यतम शिष्य श्रीमत् स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज ने इस मठ की स्थापना सन् १९१० में की थी। स्वामी विज्ञानानन्द दिव्य आध्यात्मिक भावापन्न ब्रह्मज्ञ महापुरुष थे, जिन्हें स्वामी ब्रह्मानन्दजी – जो कि श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य एवं रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के पहले अध्यक्ष थे – "गुप्त ब्रह्मज्ञानी" कहा करते थे। उन्होंने इस मठ में सुदीर्घ २८ वर्षों तक निवास कर अपनी कठोर आध्यात्मिक साधना के द्वारा यहाँ के वातावरण को आध्यात्मिक भावराज्य से परिपूर्ण कर दिया था, जिसका अनुभव मठ में आने वाले भक्तगण आज भी कर पाते हैं।

इस आध्यात्मिक भाव को भक्तों के व्यक्तिगत जीवन में उतारने के लिए अनन्त भावस्वरूप युगावतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव के एक सार्वजनीन मन्दिर की आवश्यकता अनेक वर्षों से अनुभव की जा रही थी।

अत: यह निर्णय लिया गया है कि मठ की स्थापना के शताब्दी-वर्ष २०१० के पुनीत अवसर पर वर्तमान प्रार्थना-भवन को एक सुन्दर मन्दिर का स्वरूप प्रदान करके उसमें भगवान श्रीरामकृष्ण देव की संगमरमर की प्रतिमा प्रस्थापित की जाय, जहाँ जाति-वर्ग विशेष से रहित सभी सम्प्रदाय के लोग आकर उपासना कर सकें।

मन्दिर के गर्भगृह का शिलान्यास पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्दजी, परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के कर-कमलों द्वारा ११ अप्रैल, २००८ को सम्पन्न हुआ।

इस कार्य में १ करोड़ रुपयों का व्यय अनुमानित है। अत: आपसे अनुरोध है कि इस पुनीत कार्य को सम्पन्न करने के लिये उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

रामकृष्ण मठ को दिया गया दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अनुसार आयकर मुक्त है। दान विदेशी मुद्रा में भी स्वीकार किये जायेंगे।

कृपया चेक या ड्राफ्ट "रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद" के नाम पर उपरोक्त पते पर भेजें।

श्रीरामकृष्णदेव सब पर अपनी कृपा का वर्षण करें, यही उनके श्रीचरणों में प्रार्थना है।

प्रभु की सेवा में आपका

***स्वामी त्यागात्मानन्द***

अध्यक्ष

**रामकृष्ण मिशन आश्रम सारगाछी**
(०३४८२) २३२२२ पो. - सारगाछी आश्रम,
जिला - मुर्शिदाबाद ७४२१३४
दूरभाष – (03482)
Fax – (03482) 232300
E-mail – rkmasargachi@gmail.com
website – www.rkmsargachi.0rh

# एक अपील

रामकृष्ण मिशन आश्रम,सारगाछी की स्थापना श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी अखण्डानन्द जी के द्वारा १५ मई, १८९७ ई. को रामकृष्ण मिशन की पहली शाखा के रूप में की गई। यद्यपि इसकी स्थापना महुला ग्राम में हुई थी, पर १९१३ में इसे वहाँ से ४ कि.मी. दूर सारगाछी में स्थानान्तरित कर दिया गया।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा 'शिव ज्ञान से जीवसेवा' रूपी वेदान्त की अभिनव व्याख्या से प्रेरित होकर स्वामी अखण्डानन्द जी ने वहाँ के अकाल पीड़ितों के बीच वहाँ चाँवल बाँटना आरम्भ किया। बाद में उन्होंने वहाँ एक अनाथालय तथा स्कूल की भी स्थापना की। विगत ११२ वर्षों के दौरान इस संस्था का काफी विस्तार हुआ। स्कूलों तथा कॉलेजों के अतिरिक्त ९ नि:शुल्क कोचिंग सेन्टर जिसमें ७२५ बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं। अनाथालय में १८ बच्चे हैं, एक चिकित्सालय तथा एक सचल चिकित्सालय भी चलाया जा रहा है, प्रतिदिन १२ निराश्रित विधवाओं को भोजन कराया जाता है निर्धन ग्रामीण छात्रों को स्कूल ड्रेस तथा पुस्तकें उपलब्ध करायी जाती हैं और प्रतिदिन लगभग १५ असहाय लोगों को आर्थिक या अन्य प्रकार से सहायता प्रदान की जाती है।

इन समस्त सेवा-कार्यों के लिये प्रतिवर्ष हमें लगभग २२ लाख रूपयों की जरूरत होती है। और इसके लिये हम पूरी तौर से उदार जनता पर निर्भर हैं।

आपसे अनुरोध है कि आप उपरोक्त किसी भी परियोजना में सहायता की हाथ बढ़ाये। यहाँ पर स्वयं आकर वस्तु स्थिति का अवलोकन करने को हम आपको नियन्त्रित करते हैं। चेक या ड्राफ्ट कृपया 'रामकृष्ण मिशन आश्रम, सारगाछी के नाम से बनवाकर उपर लिखे पते पर भेज दे। रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान आयकर की धारा ८० - जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त है।

आपका

***स्वामी सुप्रभानन्द***

सचिव